हिन्दी साहित्य विमर्श

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

हिन्दी साहित्य विमर्श

संशोधित संस्करण

लेखक

भूतपूर्व

"सरस्वती" सम्पादक

श्रीयुक्त पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी बी०ए०

प्रकाशक

हिन्दी-पुस्तक एजेन्सी,

ज्ञानवापी काशी।

द्वितीयवार] १९९४ [मूल

प्रकाशक
बैजनाथ केडिया
प्रोप्राइटर
हिन्दी पुस्तक एजेन्सी
ज्ञानवापी, काशी

शाखाएँ
२०३ हरिसन रोड कलकत्ता
गनपत रोड लाहौर
दरीबा कलां दिल्ली
बांकीपुर पटना

मुद्रक
रामशरण सिंह यादव
वणिक् प्रेस
साक्षीविनायक, काशी

हिन्दी-साहित्य-विमर्श

निवेदन

आज हम अपने सहृदय पाठकोंके सम्मुख एक ऐसी पुस्तक रखते हैं, जिसकी हिन्दी-साहित्यमें बहुत आवश्यकता थी।

आलोचना ही साहित्यकी श्रीवृद्धिका एकमात्र उपाय है। जिस साहित्यमें समालोचनाकी जितनी कमी होगी, उस साहित्यकी उतनीही हीनता समझी जायगी। किसी भाषाकी उन्नतिके लिये यह बहुत ही आवश्यक है कि उस भाषाकी काफी समीक्षा की जाय और उसके लेखकों, पाठकों और प्रकाशकोंकी रुचिकी सच्ची समालोचना खुले दिलसे की जाय।

'हिन्दी-साहित्यविमर्श' के लेखक हिन्दी-साहित्यके मर्मज्ञ विद्वान् "सरस्वती" के भूतपूर्व सम्पादक श्रीयुक्त पदुमलाल पुन्नालालजी बख्शी हैं। आपके इन निबंधोंसे हिन्दी-साहित्यके विकाशपर काफी रोशनी पड़ेगी। इसमें हिन्दी-साहित्यके प्राचीन और अर्वाचीन लेखकों और कवियोंकी आलोचना बड़े मार्मिक ढंगसे की गयी है। हिंन्दी-साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास, भाषाके विकास तथा उसकी स्थिरताके सम्बंधमें पश्चिमीय तथा पूर्वीय विद्वानों-

की क्या राय है, उसका हिन्दी-भाषाके इस विकासयुगमें कहांतक पालन किया जाता है, आधुनिक गद्य-पद्य-लेखकों तथा शुभचिन्तकोंने कहांतक पालन किया है, इसपर भी विचार किया गया है।

हिन्दी-भाषाके शुभचिन्तकोंमें इस समय कई दल हैं। कोई तो उसे व्याकरणके पाशमें सदा बांधे रहना चाहते हैं, कोई उसे स्वच्छन्द घूमने और विचरण करनेकी अनुमति देते हैं, कोई केवल संस्कृत भाषाकी सहायतासे ही उसकी उन्नति समझते हैं और कोई उसके भाण्डारको सब भाषाओंकी सहायतासे भरना चाहते हैं। इसी तरहसे विद्वानोंमें कई विषयोंपर मतभेद है। इसी प्रकारके प्रायः सभी विवादपूर्ण प्रश्नोंपर विद्वान् लेखकने बड़ी योग्यतासे समीक्षा की है।

आशा है कि हमारे प्रेमी पाठकगण हमारी अन्य प्रकाशित पुस्तकोंकी तरह इसका भी आदर करेंगे।

विनीत—

प्रकाशक
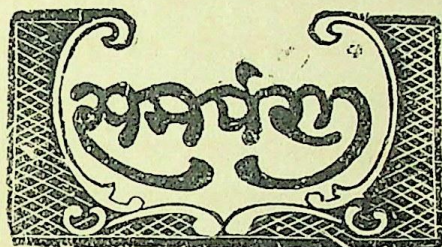
पण्डित विनायक विश्वनाथ वैद्य

एम० ए०, एल० एल० बी०

के

करकमलोंमें

पदुमलाल बख्शी

हिन्दी साहित्य विमर्श

हिन्दी-साहित्य विमर्श

१—साहित्यका स्वरूप

किसी विद्वान्ने लिखा था कि साहित्य-शब्दमें ही सम्मिलन का भाव विद्यमान है। इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य सम्मिलन हीका फल है। मनुष्य पृथ्वीपर जन्म लेता है, कुछ कालतक यहां सुख दुःखका अनुभव करता है, और अन्तमें वह अनन्त-कालके गर्भमें लीन हो जाता है। अधिकांश मनुष्योंका जीवन इसी प्रकार व्यतीत होता है। भविष्य-संसारके लिये वे कोई भी चिह्न नहीं छोड़ जाते। संसारमें ऐसे थोड़े ही महापुरुष जन्म लेते हैं, जिनकी कृति अक्षय होती है। साहित्यमें महापुरुषोंकी ही रचनायें स्थान पाती हैं, परन्तु साहित्यके लिये एकमात्र वेही आवश्यक नहीं हैं। उसमें क्षुद्रोंका भी गौरवपूर्ण स्थान है। जिन लोगोंका जीवन केवल मृत्युके लिये है, उन्हींसे समाज बनता है। यह समाज अक्षय है। एक जाता है तो दूसरा उसका स्थान ले लेता है। इस प्रकार मनुष्य-समाज चिरंतन है। समाजमें मनुष्य जीवनका जो स्रोत बह रहा है, उसका न आदि है न अन्त। संसारका जो सर्वश्रेष्ठ महापुरुष है, वह भी इस समाजकी उपेक्षा नहीं करता। अनन्त-कालसे ज्ञानकी जो निधि

संचित होती आ रही है, वह हमें समाजकी ही बदौलत प्राप्त होती है। समाजसे ही हमें भाषाका ज्ञान होता है। भाषा समाजकी ही सृष्टि है। उसके निर्माणमें छोटे-बड़े, सभी संलग्न हैं। सच तो यह है कि साहित्यमें संसारसे मनुष्यका सम्मिलन होता है। इसमें तीनों युगोंका मिलन होता है। कोई भी ऐसा क्षुद्र मनुष्य नहीं, जो इस विराट् सम्मिलनमें नहीं सम्मिलित होता। कोई भी ऐसी क्षुद्र कृति नहीं, जिसका इस सम्मिलनमें स्थान न हो।

कुछ विद्वानोंकी राय है कि वर्तमान युगमें विज्ञानकी आलोचनासे धर्मका संहार हो रहा है। जो धर्म भक्ति-प्रधान हैं, उनका ज्ञानसे सम्पर्क नहीं। इसीसे वे ज्ञानके विरोधी कहे जाते हैं। उनके कितने तत्व-विज्ञानके आविष्कृत तत्वोंसे मेल नहीं खाते। जब कभी किसी प्रचलित धर्म अथवा संस्कारके विरुद्ध किसी सत्यकी स्थापना की जाती है, तब विश्वासकी दुहाई दी जाती है। परन्तु सत्य अखंड और सम्पूर्ण है। परिवर्तनके भीतर सत्यके अखंड रूपको प्राप्त करना ही यथार्थ विश्वास है। यही विश्वास धर्मको भी स्थिरता देता है। यदि किसी धर्ममें सत्य है, तो वह सत्य भी विशाल और पूर्ण होगा। जब उसकी सीमा संकुचित कर दी जाती है, तभी धर्ममें जड़ता आती है। सत्य उसकी जड़ताको दूर और धर्मको जीवित करता है।

जगत्के समस्त तत्त्वोंके मूलमें एक सत्य है। वह सत्य यह

है कि एक शक्ति अपनेको दो रूपोंमें प्रकाशित कर रही है। अन्तर्जगतकी शक्ति वाह्य जगत्में अपनेको व्यक्त करती आ रही है। परन्तु इस तत्त्वको स्वीकार कर लेनेसे ही काम न चलेगा। मनकी एक विशेष अवस्था होती है, जिसको प्राप्त कर लेनेसे भेद-बुद्धि नहीं रह जाती। जन्मसे मृत्यु और मृत्युसे जन्म, वृद्धिसे क्षय और क्षयसे वृद्धि, एक ही वस्तु है। समस्त द्वन्द्वके मूलमें एक ही अखण्ड शक्ति विद्यमान है। मनकी विशेष अवस्था-में उसकी उपलब्धि हो सकती है। अणुओंमें विश्व-ब्रह्माण्डका स्पन्दन स्पन्दित हो रहा है। यह केवल ज्ञानका विषय नहीं, उपलब्धिकी सामग्री भी है। क्षुद्र बीजमें अनादि और अनन्त जीवनी शक्ति है, जो वृक्षको सम्पूर्ण जीवन प्रदान कर स्वयं नष्ट नहीं होती। मस्तिष्कके जीव-कोषमें संकोचन और प्रसारण हो रहा है। आत्माके चारों ओर देहकी विचित्र शक्ति व्यक्त हो रही है, रक्त दौड़ता है, स्नायु स्पन्दित होते रहते हैं; वाह्य-शक्ति भीतर आती और अन्तर्गत शक्ति बाहर प्रकट होती है। देह मानों इन दोनों शक्तियोंका सम्बन्ध-सूत्र है। जो भीतर और बाहर एक होकर रहता है, वही उपलब्धिका विषय है। इसका कुछ भी नाम रक्खा जाय, उसीसे प्राचीन विश्वास और आधु-निक विज्ञानमें सामंजस्य स्थापित हो सकता है। अनेक एकके विरुद्ध नहीं है; अनेकमें ही एक है। सीमा और असीममें विरोध नहीं है, किन्तु सीमामें असीम है। स्वार्थपरता और परार्थपरतामें विरोध नहीं है, स्वार्थपरतामें ही परार्थपरताका आविर्भाव होता

है। इस प्रकार सब तत्त्वोंका सामंजस्य करना आधुनिक युगकी धर्म-साधना है। तभी विज्ञान और धर्मका विरोध दूर हो सकता है।

साहित्यके काव्य और विज्ञान, ये दो बड़े विभाग किये जा सकते हैं। इनकी एकताके सम्बन्धमें बसु महोदयने यह कहा था कि कवि अपनी अन्तर्दृष्टिसे विश्वमें एक 'अरूप' को देखता, और उसीको वह रूपमें प्रकाशित करता है। जहां दूसरोंकी दृष्टि नहीं पहुँचती, वहां उसकी दृष्टि अवरुद्ध नहीं होती। कविकी कृतिमें हमें उसी रूप-रहित देशका आभास मिलता है। वैज्ञानिक का मार्ग इससे भिन्न होता है, परन्तु उसकी और कविकी साधना एक होती है। जहां दृष्टि-शक्तिके आलोकका अन्त हो जाता है, वहां भी वह आलोकका अनुसरण करता है। जहां श्रुतिकी शक्ति स्वरकी अन्तिम सीमा तक पहुँच जाती है, वहांसे भी वह कंपमान वाणीको ले आता है। जो प्रकाशके अतीत रहस्यके प्रकाशकी आड़में बैठकर दिन-रात काम करता है, उसीसे प्रश्न पूछकर वैज्ञानिक उसका उत्तर लाता और उसको मनुष्योंकी भाषामें प्रकट करता है। प्रकृतिके इस रहस्य-निकेतनमें अनेक महल और अनेक द्वार हैं। प्रकृति-विज्ञानवित्, रासायनिक, प्राणिशास्त्रविशारद आदि वैज्ञानिक इसके एक-एक द्वारसे एक-एक महलमें पहुंचते हैं। वहां वे यही समझते हैं कि यही महल उनका विशेष स्थान है, दूसरे महलमें उनकी गति नहीं है। इसीसे उन्होंने जड़, उद्भिद् और चेतनमें अलंघ्य रीतिसे

विभाग कर दिया है। एक-एक कमरेकी सुविधाके लिये दीवार भले ही खड़ी कर दी जाय, परन्तु समूचे महलका अधिष्ठाता एक ही है। सभी विज्ञान अन्तमें एक ही सत्यका आविष्कार करेंगे। जहां उनके भिन्न-भिन्न पथ जाकर मिलते हैं, वहीं पूर्ण सत्य है। कवि और वैज्ञानिकमें भेद यही है कि कवि अपने पथकी चिन्ता तक नहीं करता, आत्म-संवरण उसके लिये असाध्य है, परन्तु वैज्ञानिक अपने पथकी उपेक्षा नहीं करता और पर्यवेक्षण तथा परीक्षणसे उसको सदा आत्मसंवरण करना पड़ता है।

२--साहित्यकी गति।

साहित्यके मर्मज्ञ विद्वानोंने साहित्यके विकास कालको कुछ युगोंमें विभक्त कर दिया है। किसी विशेष युगमें जितने कवि हुए हैं वे सब उसी युगके कवि कहे जाते हैं। तुलसीदास या शेक्सपियरका जन्म एक विशेष कालमें हुआ। उस कालमें और भी जितने कवि हुए, इतिहासज्ञोंने उन सभी कवियोंको एक ही युगमें स्थान दे दिया। परन्तु इस काल-विभागसे कवियोंकी विशेषता प्रकट नहीं होती। तुलसीदासजीके युगमें जन्म लेने पर भी किसी कविकी कृतिमें वह विशेषता नहीं प्रकट हुई जो तुलसीदास जीकी रचनामें विद्यमान है, यही बात देश, धर्म और जातिके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। एक ही देश, एकही धर्म और एक ही जातिमें उत्पन्न होकर भी भिन्न भिन्न-कवियोंकी भिन्न २ विशेषताएं देखी जाती हैं। महा कवियोंके विषयमें यह कहा जाता है कि वे देश और काल अपरिछिन्न होते हैं, उनकी रचनाओंमें सार्वदेशिक और सार्वकालीन भावनाएं विद्यमान हैं, परन्तु छोटे कवि भी जिनकी रचनाएं अपने देश और कालसे आगे नहीं बढ़तीं, अपने विशेषत्व को देश और कालमें ही लुप्त नहीं होने देते। विचारणीय यह है कि साहित्यमें युगका कौनसा धर्म व्यक्त होता है, देशकी कैसी विशेषता प्रकट होती है, और जाति

की कौनसी भावना निहित रहती है जिसके कारण साहित्यका काल-निर्देश किया जाता है।

सत्यको अनन्त और धर्मको अनादि माननेवाले यह भूल जाते हैं कि अनन्त सत्य और अनादि धर्म केवल भावनाके ही रूपमें विद्यमान हैं। मनुष्योंके लोकमें न तो अनन्त सत्य है, और न अनादि धर्म है।

मनुष्य समाज कुछ ही सत्योंको लेकर व्यस्त रहता है। जो धर्म उसके समाजमें प्रचलित है उसका आदि है और अन्त भी। संसारमें सत्य बदलते रहते हैं, और धर्म भी परिवर्तित होते हैं। यह सर्वथा संभव है कि जिसे आज हम सत्य समझकर अपनाये हुए हैं, उसीको कल मिथ्या समझकर छोड़ दें। सत्यका यह स्वरूप देश और कालसे ही परिछिन्न रहता है अथवा यह कहा जा सकता है कि देश और कालमें ही सत्यके इस रूपकी अभिव्यक्ति होती है। जब हम यह कहते हैं कि सत्य सर्वव्यापक है, अविनश्वर है, तब हम केवल सत्यकी भावनाका ही विचार करते हैं। यह भावना मनुष्य मात्रमें है। सभी समय और सभी देशोंमें यह भावना विद्यमान रहती है। मनुष्यकी उन्नतिका मूल यही है। सत्यके प्रति उसका जो आग्रह है, उसीके कारण उसमें जिज्ञासा है। इसीकी प्रेरणासे वह सदैव परीक्षामें निरत रहता है। इसमें सन्देह नहीं कि सत्यकी यह भावना सर्वव्यापक है। परन्तु जब यह भावना प्रकट होती है तब वह किसी देश-विशेष के किसी काल-विशेषमें किसी जाति-विशेषके मनुष्योंमें ही प्रकट

होती है। तब उसका स्वरूप परिमित हो जाता है। साहित्यमें मनुष्योंके यही प्रयास प्रकट होते हैं। सत्यके इन परिमित रूपोंको मनुष्य इस संसारमें देखता है। वह जैसा देखता है, अनुभव करता है। उसीको वह प्रकट करता है। कभी उसे विस्मय होता है। कभी हर्ष, कभी शोक, कभी क्रोध, जिन पदार्थ-विशेषोंके कारण उसमें भिन्न-भिन्न भावोंका उद्रेक होता है, और विनाश भी, अतएव उनके साथही मनुष्यकी भावनायें परिवर्तित होती हैं। उपर्युक्त विवेचनसे यह प्रकट होता है कि साहित्यकी सृष्टिमें दो प्रधान कारण हैं। एक तो कवि दूसरा कवि का उपादान, ये उपादान ही कविकी शक्तिको निर्दिष्ट कर देते हैं। ये उपादान केवल वाह्य संसारकी वस्तुएं नहीं हैं जो कविकी कल्पनाको उत्तेजित करती हैं। कविके अन्तस्तलमें कितने ही भाव संस्कारके रूपमें छिपे रहते हैं, जिन्हें कवि दूसरोंसे पाता है, अपने देशसे, अपनी जातिसे और अपने समाजसे, मान लीजिये कि किसी कविमें उच्च कोटिकी शक्ति है। परन्तु यदि उसके विकासके लिये उचित उपादान नहीं, यदि उसके देशगत, जाति-गत और समाजगत संस्कार अच्छे नहीं हैं तो उसकी कवित्व शक्तिमें शैथिल्य आ जायगा। कविके इन मानसिक संस्कारोंको सबसे अधिक पुष्ट करती है भाषा। भाषा पूर्वार्जित भावोंका भंडार है। उसीमें तत्कालीन भावभी रहते हैं। जन्म ग्रहण करते ही कवि पर उसका प्रभाव पड़ने लगता है। भाषाके बाद तत्कालीन लोक-रुचिका बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिसे हम युग-धर्म कहते

हैं, वह और कुछ नहीं, लोक-रुचि मात्र है। इसमें सन्देह नहीं कि यह लोक-रुचि एक ही दो दिनोंमें नहीं बन जाती उसपर अतीतका बड़ा प्रभाव रहता है, परन्तु यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि जिसे हम किसी युग-विशेषमें धर्म कहते हैं वह सत्‌के प्रति उस युगके मनुष्योंकी रुचिको सूचित करता है। जब वह रुचि विकृत हो जाती है, तब मनुष्योंका धार्मिक पतन होने लगता है। आश्चर्य यह है कि दुराग्रहके कारण हम अपनी रुचि-मात्रको धर्मका श्रेष्ठ स्वरूप समझ बैठते हैं, और उसमें सनातनत्वकी कल्पनाकर अपनी रुचिके विकारको ही धर्मका उज्ज्वल रूप मानने लगते हैं। ऐसी स्थितिमें जो कवि जन्म लेते हैं, उनकी कृतिमें लोकका विकृति-रुचिकी प्रतिच्छाया अवश्य दृग्गोचर होती है। यह संभव है कि कवि अपने व्यक्तित्वके कारण समाजकी विकृतावस्थाके ऊपर चला जाय। यही नहीं किन्तु वह समाजके रुचिको परिष्कृत भी कर दे और यह श्रेष्ठ कवियोंका काम भी है, परन्तु उसे पद-पद पर समाजके साथ द्वन्द्व-युद्ध करना पड़ेगा। यह मनुष्य मात्रका स्वभाव है कि परिमित सत्यको स्वीकर करके भी वह अपने ज्ञानके परिमित स्वरूपको देखना नहीं चाहता। अतएव जो नवयुगके विधायक होते हैं, उन्हें समाजकी संकीर्णावस्थाको दूर करनेके लिये उसीके आधार पर नव-ज्ञानकी प्रतिष्ठा करनी पड़ती है। वे स्वयं अच्छी तरह जानते हैं कि सत्यका अन्तिम रूप संसारमें प्रत्यक्ष नहीं किया जा

सकता। उसके केवल अंश-मात्रही व्यक्त हो सकते हैं। इसीसे वे अंशमें ही अनन्तको देखते हैं, परन्तु संसार एक सत्यांशको छोड़कर दूसरे सत्यांशको ग्रहण करता है। जो महा कवि विश्व-कवि माने जाते हैं, जिनकी रचनाओंमें सार्वदेशिक और सार्व-कालीन भावोंकी प्रधानता रहती है, वे कुछ ऐसे सत्यकी चर्चा नहीं करते, जो अनादि अनन्त और निर्विकार हैं, उनमें भी सत्यांश ही रहता है, परन्तु वे उन सत्यांशोंके द्वारा केवल सत्य के एक अखंड रूपको प्रकट करना चाहते हैं। रामायण, इलि-यड अथवा पेराडाइज लास्टमें राम-रावणका युद्ध या ट्रोजनवार अथवा सेटनका पतन ही सत्यका अन्तिम रूप नहीं है। यद्यपि उपर्युक्त काव्योंमें इन्हींका वर्णन है। मानव-जीवनकी जो उच्च-तम आकांक्षा है वही घटनाओंमें व्यक्तकी जाती है। घटना केवल सत्यांश है। परन्तु उस घटनामें मानव-जीवनकी जो सर्वश्रेष्ठ भावना काम करती है वह सत्य है। जिस कविने उस पूर्णसत्य को उपलब्ध कर लिया है उसीकी कृतिमें हम सत्यके अन्तिम स्वरूपकी झलक देख पाते हैं। घटना चाहे छोटी हो या बड़ी वह चाहे राम-रावण युद्ध हो या किसी पतितका अन्तर्युद्ध हो, श्रेष्ठ कविका काम है।

हमें उस भावनाका प्रत्यक्ष कराना है जो मनुष्य मात्रके हृदय में अव्यक्त रूपसे विद्यमान है। यह भावना एक ऐसी पूर्णताकी कामना है जिसमें फिर कुछ अपूर्णता नहीं रहती। सभी लोग मानो एक ऐसे पूर्ण पुरुषका दर्शन करना चाहते हैं जिसमें

उसकी समस्त आकांक्षाओंका अवसान हो जाय। सुखमें और दुखमें, आशा और निराशामें, उत्थानमें और पतनमें वह एक पुरुष हो, वह पुरुषोत्तम हो। भिन्न २ जातियोंमें,भिन्न २ देशोंमें विभिन्न पुरुषोत्तमोंकी कल्पना की है। इसी कल्पनामें उनकी उच्चतम आकांक्षा निहित है।

हम कह आये हैं कि कविकी कल्पनामें देश, काल और जातिके संस्कार काम करते हैं। जो जाति स्वाधीन है, उसमें यदि विजयाकांक्षाके भाव प्रबल हैं, तो वह निर्विकार और निरीह पुरुषोत्तमकी कल्पना नहीं करेगी, अपनी आकांक्षाकी पूर्तिके लिये वह एक ऐसे पुरुषकी कामना करेगी जो शत्रुओं का पराभव कर देशमें विजयलक्ष्मीकी प्रतिष्ठा करे। इसी प्रकार जो जाति विजयोल्लाससे उन्मत्त है, जिसके घरमें श्री दासी होगई है, वह एक ऐसे पुरुषकी इच्छा करेगी जिसे श्री अपनी वरमाला पहना सके। जो जाति मानवीय शक्तिको प्रतिहत देख लेती है, उत्कट लालसाका विषमफल अनुभव कर लेती है, जिघांसा और क्रूरताके घोर परिणामको जान जाती है वह निर्विकार और निरीहकी अभिलाषा करती है। निर्बल जातियोंमें यदि ऐहिक कामनाओंका प्राबल्य हुआ तो उनकी कल्पना उद्दाम हो जाती है। प्रबल जातियोंमें विलसताके भाव ऐहिक सौन्दर्यकी सृष्टिके कारण होते हैं। परन्तु निर्बल जातियोंमें वही काल्पनिक जगत्का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार देशके संस्कार काम करते हैं। जो देश प्रकृतिकी लीला-भूमि है, जहाँ प्रकृति क्षण-क्षणमें नवरूप

धारण करती है, उस देशके मनुष्योंकी सौन्दर्य भावनामें वैचित्र्य रहेगा। असीम और अनन्त प्रकृतिकी गोदमें विहार करनेवाली जाति सौन्दर्यका विराटरूप देखेगी। जिस जातिके साथ प्रकृति का जितना ही अधिक साहचर्य होगा उसकी कल्पनामें प्रकृतिके साथ उतनीही अधिक सहानुभूति होगी। कालका प्रभाव भी पड़ता है। जिस जातिमें जितनी अधिक प्राचीनता रहेगी उसमें उतनी ही अधिक संस्कारोंकी दृढ़ता होगी। दो भिन्न २ जातियोंके पारस्परिक सम्मिलनसे कुछ न कुछ भेद अवश्य हो जाता है, परन्तु एक प्राचीन जाति एक नव जातिको अधिक सरलतासे आत्मसात् कर लेती है, इन्हीं सब बातोंके आधार पर हमें साहित्यकी पर्यालोचना करनी चाहिये।

३—भाषा और साहित्य

भाषा और साहित्यका पारस्परिक विच्छेद नहीं हो सकता। वाणी और अर्थ सदैव संयुक्त ही रहेंगे। भाषा हमारे पूर्वजों-की अर्जित सम्पत्ति है। उसीके द्वारा हम अपने पूर्वजोंके संगृहीत ज्ञानका उपार्जन कर सकते हैं। अतएव हमें इस सम्पत्ति-की रक्षा सदैव यत्नपूर्वक करनी चाहिए। परन्तु यह सम्पत्ति ऐसी नहीं है कि हम इसे कोषमें सुरक्षित रख सकें। यदि हम अपनी भाषाकी वृद्धि नहीं कर सकते तो उसकी रक्षा करना भी हमारे लिये असम्भव है।

संसार परिवर्त्तनशील है, क्योंकि वह उन्नतिशील है। स्थिरता जड़त्वका सूचक है। जो जड़ नहीं वे जङ्गम हैं, उनकी गति अवरुद्ध नहीं होती। मानव-जीवनका जो स्रोत अनादि-कालसे बह रहा है वह उद्देश्य-हीन नहीं है। वह किसी एक लक्ष्यकी ओर जा रहा है। अबतक असंख्य मनुष्य इस स्रोतमें बहकर कालके अनन्त गर्भमें लीन हो गये हैं। परन्तु वे इस स्रोतमें अपना चिह्न छोड़ गये हैं। उनके मत और विचार भाषाके रूपमें अभीतक वर्त्तमान हैं। अनन्तकालसे मनुष्य अपने भावोंकी अभिव्यक्तिके लिए चेष्टा करते आ रहे हैं। हमारी वर्तमान भाषा उसीका परिणाम है। मनुष्यके साथ

भाषाकी उत्पत्ति हुई है और उसीके साथ उसका विकास हुआ है। भाषाको हम भावसे पृथक नहीं कर सकते। इसीलिये किसी भी भाषाकी उत्पत्तिका विचार करते समय हमें उन भावनाओं-पर ध्यान देना होगा जिनके कारण उस भाषाका स्वरूप स्थिर हुआ है।

भाषामें परिवर्तन अवश्यम्भावी है, क्योंकि उसका सम्बन्ध जीवित मनुष्य-समाजसे है। सभी देशोंमें और सभी कालोंमें भाषामें परिवर्तन होते रहते हैं। यह परिवर्तन किसीकी इच्छा-पर निर्भर नहीं हैं। आर्योंकी जो प्राचीन वैदिक भाषा शताब्दियोंके परिवर्तनके बाद आधुनिक हिन्दीके रूपमें परिणत हुई है वह किसी मण्डली अथवा परिषदके कारण नहीं। यह सच है कि जब भाषा साहित्यिक हो जाती है तब उसमें परिवर्तन नहीं होते। परन्तु सर्वसाधारणसे सम्पर्क न रखनेपर सभी साहित्यिक भाषायें मृत हो जाती हैं। हिन्दी भाषाकी उत्पत्ति भाषा-विकासका फल है। विद्वानोंकी राय है कि वैदिक युगकी प्रचलित भाषाओंमें एक ने विशेष उन्नति की। वह विद्वानोंकी, शिष्टोंकी, भाषा हो गयी। वही संस्कृत है। उसमें श्रेष्ठ साहित्यकी रचना हुई। शिष्ट-भाषा होनेसे संस्कृतकी श्री-वृद्धि अवश्य हुई, पर अन्य ग्राम्य भाषाओंका प्रचार बढ़ता गया। अन्तमें उन्हीं प्राकृत भाषाओंसे संस्कृत दब गयी। वे प्राकृत भाषायें भी साहित्यिक हुईं। परन्तु सर्वसाधारणकी भाषाका विकास होता ही गया। उससे अपभ्रंश भाषाओंकी

उत्पत्ति हुई। उन्हींमें एकसे हिन्दीकी उत्पत्ति हुई। आधुनिक हिन्दी-साहित्यमें जिस भाषाका प्रयोग किया जाता है वह सर्व-साधारणकी भाषाओंसे सम्बन्ध रखती है। परन्तु अभी उसका रूप स्थिर नहीं हुआ है। अतएव हिन्दीमें अभी तक एक बड़ी समस्या भाषाकी है।

भाषाकी उन्नतिका सबसे बड़ा अवरोधक है उसकी पराधीनता। हिन्दीमें भाषाकी जो समस्या विद्यमान है उसका प्रधान कारण यह है कि वह अभीतक पराधीनताके पाशसे मुक्त नहीं हुई है। जैसे देशकी समृद्धिके लिए स्वराज्यकी आवश्यकता है वैसे ही साहित्यकी उन्नतिके लिए भाषाका भी स्वराज्य आवश्यक है। जब कोई जाति किसी देशको अपने दासत्व-बन्धनमें रखना चाहती है तब वह उस देशके राजनैतिक स्वत्वोंका तो अपहरण करती ही है, साथ ही वह उस देशकी भाषाका स्वराज्य भी छीन लेती है। तब विजेता-जातिकी ही भाषा देशकी प्रधान भाषा हो जाती है। इसका एक परिणाम यह होता है कि पराधीन जातिकी भाषा पर विजेता-जातिकी भाषाका प्रभाव पड़नेसे विशृङ्खलता आ जाती है। इसको दूर कर अपने जन्म-सिद्ध अधिकारोंको प्राप्त करना ही भाषाका स्वराज्य प्राप्त करना है।

भाषा राष्ट्रीयताका चिह्न है। अतएव हिन्दी-भाषामें हिन्दू-जातिकी राष्ट्रीयता स्थिर कर उसकी विशेषताको अक्षुण्ण बनाये रखना चाहिए। उसे इस योग्य बना देना चाहिये कि देशकी समस्त भावनायें उसीमें व्यक्त हों। हमें अपने धर्म, इतिहास,

विज्ञान अथवा राजनीतिको समझनेके लिए किसी अन्य भाषाकी ओर न ताकना पड़े। यही भाषाका स्वराज्य है। विदेशी भाषाओं और साहित्योंके पराधीनता-पाशसे सहसा कोई भी भाषा मुक्त नहीं हुई। अपना स्वराज्य स्थापित करनेके लिये प्रत्येक भाषा क्रमशः तीन अवस्थाओंको अतिक्रमण करती है। तभी उसकी विशेषता परिस्फुट होती है। पहली अवस्थामें उसको किसी मृत भाषाका प्रभाव दूर करना पड़ता है। भाषा मृत तभी होती है जब वह देशकी समस्त भावनाओंको स्पष्ट करनेमें असमर्थ होती है। तब उसका क्षेत्र संकुचित हो जाता है और वह थोड़े ही लोगोंकी सम्पत्ति हो जाती है। तब वह देशको प्रचलित भाषा न होकर सिर्फ साहित्यिक भाषा रह जाती है। दूसरी अवस्थामें भाषाको विदेशी भाषाओंके संसर्गज दोषोंको निर्मूल करना पड़ता है। तीसरी अवस्थामें वह अपनी ही कृत्रिमताको दूरकर स्वाभाविक रूप ग्रहण करती है। सभी भाषाओंके इतिहासमें भाषाके विकासके लिये यही तीन सोपान हैं।

योरोपमें एक हजार वर्षतक लैटिन ही साहित्यकी भाषा थी। विज्ञान; दर्शन, धर्मशास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि सभी विषय लैटिन-भाषामें ही लिखे जाते थे। सर्वसाधारणके मनोविनोदके लिए प्रचलित भाषामें तरह-तरहकी कहानियां और कवितायें अवश्य लिखी जाती थीं। परन्तु शिक्षित-समाजमें; उनकी गणना साहित्यमें नहीं की जाती थी। लैटिन-भाषाका प्राधान्य आधुनिक युगके प्रारम्भतक था। बेकन, स्पाइनोज़ा,

न्यूटन आदि विद्वानोंतकने लैटिन-भाषामें रचना की है। आधुनिक युगके विख्यात दार्शनिक बर्गसनने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ —काल और इच्छाशक्ति—को लैटिन-भाषामें ही लिखा। यही हाल भारतवर्षका भी हुआ। संस्कृत-भाषा बौद्ध युगके प्रारम्भ-कालमें ही जन-साधारणसे पृथक् हो गयी। तो भी अठारहवीं शताब्दीतक उसी भाषामें कितने ही श्रेष्ठ विद्वानोंने अच्छे-अच्छे ग्रन्थ लिखे। साहित्य-क्षेत्रमें लैटिनका प्रभुत्व लुप्त होनेपर योरोपमें मध्ययुगका अवसान हुआ और नवीन युगका आरम्भ। परन्तु मृत भाषाका प्राधान्य घट जानेपर भी प्रचलित भाषायें स्वतन्त्र नहीं हो जातीं। कारणवश उन्हें किसी विदेशी भाषाका प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ता है। प्रायः राजनैतिक प्रभुत्वके कारण विदेशी भाषा विजित-जातिकी भाषा और साहित्यके ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेती है। कभी-कभी अपने ऐश्वर्यसे ही कोई भाषा दूसरी भाषाको दबा लेती है। रोमने ग्रीसपर विजय प्राप्त किया, पर ग्रीसके साहित्यने रोमके साहित्यको पराभूत कर दिया। लैटिन-भाषा और साहित्यकी उन्नति ग्रीक-भाषा और साहित्यके आधारपर हुई है। अस्तु। लैटिन-भाषाके बाद योरोपमें फ्रेंच-भाषा और साहित्यका सर्वत्र आदर होने लगा। श्रेष्ठ साहित्यके लिए, फ्रेंच-भाषा ही उपयुक्त समझी जाने लगी। योरोपमें फ्रेंच-भाषाकी प्रधानता कुछ तो राजनैतिक कारणसे हुई और कुछ उसके आन्तरिक वैभवसे। धार्मिक भावोंसे भी कभी-कभी किसी भाषाका प्रचार

बढ़ जाता है। जब भारतवर्षमें वैष्णव-मतका प्राबल्य था तब अधिकांश वैष्णव-गुरुओंने व्रज-भाषामें ही रचना की। इसका फल यह हुआ कि वैष्णव-धर्मके साथ-साथ व्रज-भाषाका भी प्रचार भारतके अनेक प्रान्तोंमें हो गया। बंगालकी 'व्रज-बुलि' इसीका एक उदाहरण है।

साहित्यका स्रोत सदैव समतल भूमिपर ही नहीं बहता। कभी वह ऊपर जाता है तो कभी नीचे। ऐसे ही उत्थान और पतनसे किसी साहित्यका विकास होता है। यदि यह बात न होती तो जिस इटलीने दान्तेके समान कविको उत्पन्न किया वह फ्रेंच-भाषाकी प्रभुताको स्वीकार न करता। परन्तु कुछ समयतक वहां फ्रेंच-भाषाका ही दौरदौरा रहा। इटलीके नवयुगके आदि कवि अलफियेरीने भी पहले-पहल अपने नाटकोंकी रचनाके लिए फ्रेंच-भाषाका ही आश्रय ग्रहण किया। परन्तु उसे शीघ्र ही मालूम हो गया कि विदेशी भाषामें कितना ही परिश्रम क्यों न किया जाय, उसमें श्रेष्ठ साहित्यकी रचना नहीं की जा सकती। तब उसने अपनी ही भाषामें काव्य लिखे और इटलीमें नवीन साहित्यकी उन्नति होने लगी। यही हाल जर्मनीका हुआ। १०० वर्षतक फ्रेंच-साहित्यने जर्मनीको माया-मुग्ध कर रक्खा था। फ्रेडेरिक दी ग्रेटने जर्मनीको राजनैतिक स्वतन्त्रता दी, परन्तु फ्रेंच-भाषाके सार्वभौम आधिपत्यको उन्होंने भी स्वीकार किया। जर्मनीके प्रसिद्ध तत्ववेत्ता लेवानीज़ने फ्रेंच-भाषामें ही अपने दर्शन-शास्त्रकी रचना की। जर्मन-भाषाको उन्होंने कदा-

चित् अनुपयुक्त समझा। पर उसी भाषामें दर्शन-शास्त्रकी रचनाकर कैन्टने अक्षय-कीर्ति प्राप्त की है। आजकल तो विद्वानोंकी यह धारणा है कि दर्शन-शास्त्रके लिये सबसे उपयुक्त जर्मन-भाषा ही है। लूथरने जर्मनीको धार्मिक स्वतन्त्रता दी और कैण्टने वहां भाषाका स्वराज्य स्थापित किया। तबसे जर्मन-साहित्यकी जो उन्नति हुई है वह विलक्षण है।

भारतवर्षमें हिंदू-साम्राज्यका अन्त होनेपर संस्कृतका आधिपत्य हिंदू-धर्मपर रह गया। मुसलमानोंके शासन-कालमें राज-भाषा होनेके कारण फ़ारसीका विशेष प्रचार हुआ। अंगरेजोंका प्रभुत्व होनेपर अंगरेजी भाषाने समाजपर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है। शिक्षाके लिए वही एक उपयुक्त भाषा मानी गई है। इसका फल यह हुआ कि देशके शिक्षितोंका ध्यान अंगरेजी भाषाकी ही ओर आकृष्ट है। अंगरेजी भाषाके माया-जालको तोड़कर बंगालके शिक्षित समाजने अपने देशमें एक नवीन साहित्यकी सृष्टि की है। इस साहित्यकी उत्तरोत्तर उन्नति हो रही है। हिन्दी भी अब अपने प्रान्तमें सर्वमान्य हो रही है। परन्तु अभी उसे दूसरी भाषाओंका आश्रय ग्रहण करना पड़ता है।

पृथ्वीपर जब-जब किसी नवीन धर्मका प्रचार हुआ है तब-तब उस धर्मके साथ किसी भाषा-विशेषकी उन्नति हुई है। बौद्ध-धर्मके साथ पालीका प्रचार हुआ। जैन-धर्मके साथ मागधीकी वृद्धि हुई। योरोपमें पहले रोम राजकीय शक्तिका केन्द्र था। मध्ययुग

में पोपके अभ्युदयसे वह धर्मका भी केन्द्रस्थान हो गया। उसीके साथ लैटिन-भाषा भी देव-भाषा हो गयी। लूथरने रोमके धर्म-राज्यके विरुद्ध जो आन्दोलन किया उसके लिये उन्होंने लैटिन-भाषाका परित्यागकर जर्मन-भाषाका आश्रय लिया। इसका फल यह हुआ कि आजतक जो भाषायें लैटिन-भाषासे उद्गत हुई हैं उनके बोलनेवाले रोमन कैथोलिक हैं और जिन जातियोंकी भाषाका सम्बन्ध जर्मन-भाषासे है वे प्रोटेस्टेंट हैं। भारतवर्षमें बौद्ध-धर्मके ध्वंस होनेपर ब्राह्मण्य-धर्मके साथ संस्कृत-भाषाकी वृद्धि हुई। धार्मिक संस्कारोंके कारण किसी मृत-भाषाका प्रभुत्व भी अखण्डित बना रहता है। हिन्दीपर संस्कृत भाषाका जो आधिपत्य है उसका कारण धार्मिक संस्कार ही है। ब्राह्मण्य-धर्मके विरुद्ध हिन्दीमें भी आन्दोलन हुए हैं। वैष्णव-धर्मके आचार्योंने ज्ञान और कर्मके ऊपर भक्तिका प्राधान्य प्रतिष्ठित कर हिन्दी-भाषाको स्वतंत्रता दे दी। ज्ञान और कर्मकी मीमांसा देववाणीमें ही उपलब्ध हो सकती है, परन्तु भक्ति-मार्ग हिन्दी-भाषामें सुलभ हो गया। तभीसे हिन्दी-भाषाका अभ्युदय आरंभ हुआ है। जब ज्ञानका क्षेत्र थोड़े ही लोगोंमें परिमित हो जाता है तब भाषामें उसके विरुद्ध आन्दोलन होने लगता है। धर्म और ज्ञानकी भाषा सदैव लोक-भाषा होनी चाहिए। हिन्दीमें कृत्रिम-भाषाके विरुद्ध जो आन्दोलन हो रहा है उसका भी कारण यही है। लोग चाहते हैं कि क्या गद्य और क्या पद्य, दोनोंके लिए बोलचालकी भाषा प्रयुक्त होनी चाहिए।

भाषाका स्वराज्य स्थापित हो जानेसे, धर्म और ज्ञानपर एक-मात्र मातृभाषाका आधिपत्य स्थापित हो जानेसे, विदेशी भाषाओंसे अथवा संस्कृतके समान प्राचीन भाषाओंसे उसका सम्पर्क नहीं छूट सकता है। योरोपमें सभी भाषायें स्वाधीन हैं। धर्म, समाज, राजनीति, शिक्षा सभीमें वहांके देशकी प्रचलित भाषाका ही स्वराज्य है। तो भी वहांके लोग अपनी मातृ-भाषाके अतिरिक्त दो दो तीन तीन विदेशी भाषाओंका अध्ययन करते हैं। प्राचीन भाषाओंका भी अध्ययन और अनुशीलन किया जाता है। बात यह है कि अतीतकालकी सभ्यताका रहस्य प्राचीन साहित्यमें ही विद्यमान है। बिना उसका ज्ञान प्राप्त किये हम वर्त्तमान सभ्यताकी यथार्थ प्रकृतिसे अवगत नहीं हो सकते। इसी प्रकार ज्ञानकी जो धारायें भिन्न-भिन्न देशोंमें विभक्त हैं उनका पूर्ण परिचय प्राप्त करनेके लिये विदेशी भाषाका ज्ञान होना आवश्यक है। विदेशी भाषा और साहित्यकी चर्चा छोड़ देनेसे मनुष्यका ज्ञान-क्षेत्र संकुचित हो जायगा। अतएव प्राचीन भाषाओं और विदेशी भाषाओंकी उपेक्षा कभी भी नहीं की जा सकती। अब प्रश्न यह है कि यदि इन भाषाओंका अनुशीलन होता रहेगा तो क्या उनका प्रभाव देश-भाषापर नहीं पड़ेगा? पृथ्वीपर ऐसी कोई जीवित भाषा नहीं है जो दूसरी भाषाओंसे शब्द ग्रहण न करती हो। हिन्दीमें अभीतक विदेशी भाषाओंके कितने ही शब्द प्रचलित हो गये हैं। भविष्यमें और भी अनेक शब्द प्रचलित

होंगे। ज्यों ज्यों हिन्दीका प्रचार बढ़ेगा त्यों त्यों उसमें नये शब्द आवेंगे। न तो कोई जातियोंके पारस्परिक सम्बन्धको तोड़ सकता है और न कोई भाषाओंके पारस्परिक सम्मिश्रणको ही रोक सकता है। परन्तु इससे हानि होनेकी कोई आशंका नहीं है। अपनी विशेषताको अक्षुण्ण रखकर हिन्दी सभी भाषाओंसे शब्द ग्रहण कर सकती है। कुछ विद्वान् हिन्दी-भाषाको एक स्थिर रूप देना चाहते हैं। उनकी राय है कि भाषाकी भी एक मर्यादा होती है, जिसका पालन करना सबके लिए आवश्यक है। लेखकोंको उच्छृङ्खल नहीं होना चाहिए। भाषामें स्वेच्छाचार देखकर उन्हें दुःख होता है। वे चाहते हैं कि भाषा नियमबद्ध हो जाय। इसके विपरीत कुछ लोग बन्धनसे बहुत घबराते हैं। उनका कथन है कि भाषाकी वृद्धिमें रुकावट डालनेका अधिकार किसीको नहीं है। उनकी यह भी राय है कि भाषाको उन्नत करनेके लिये उसके शब्द-भाण्डारको विस्तीर्ण करनेकी जरूरत होती है। अतएव भाषामें इतनी स्वतन्त्रता अवश्य होनी चाहिए कि जिससे हम अन्य भाषाओंसे सम्बन्ध रख सकें। कुछ लोग हिन्दीमें कठिन संस्कृत शब्दोंका बाहुल्य देखकर रुष्ट हो जाते हैं। कुछ हिन्दी और उर्दूका भेद ही मिटा देना चाहते हैं। कभी कभी व्याकरण-सम्बन्धी प्रश्न भी उपस्थित हो जाता है। ये तो भाषा-सम्बन्धी समस्यायें हैं। साहित्यिक ग्रन्थोंकी समालोचनामें आदर्शोंकी विभिन्नतासे भी विवादके कारण उपस्थित हो जाते हैं। हमारी यह धारणा

है कि ये विवाद दूर होनेके नहीं, क्योंकि ऐसे ही विवादों और विरोधोंके द्वारा साहित्य उन्नतिके पथपर अग्रसर होता है। तो भी एक बात बिलकुल सच है वह यह कि जो विद्वान् यह समझते हैं कि किसी विद्वत्परिषद् अथवा साहित्य-सम्मेलनके द्वारा किसी भाषाका आदर्श निश्चित हो सकता है वे भ्रममें हैं। भाषाके साथ मनुष्योंका जो सम्बन्ध है उसपर इन विद्वानोंकी दृष्टि नहीं जाती। आजतक किसी भी साहित्य-परिषद्के द्वारा भाषाका रूप निश्चित नहीं हुआ।

हमें स्मरण रखना चाहिये कि भाषा विद्वानों हीकी सम्पत्ति नहीं है, उसपर सभीका अधिकार है। उसके अधिकारियोंमें अधिकांश लोग विद्यासे शून्य हैं। यदि विद्वत्समाज भाषा-सम्पत्तिको अपनानेकी चेष्टा करेगा तो छूछा कोष उसके हाथ रह जायगा और सम्पत्ति जनताके हाथ चली जायगी। भाषा-पर विद्वानोंका प्राधान्य कभी न रहा है और न रहेगा। भाषा जनताका अनुसरण करेगी और विद्वान् भाषाका अनुसरण करेंगे। भाषा मृत तभी होती है जब वह विद्वानोंकी सम्पत्ति हो जाती है। तब वह देश-भाषा न होकर साहित्यिक भाषा हो जाती है।

अब प्रश्न यह है कि भाषाका विकास किस प्रकार होता है। भाषाका सम्बन्ध मनुष्यके अन्तर्जगत्से है। वह उसकी अन्तर्भावनाओंका बाह्य रूप है। ज्यों-ज्यों उसकी अन्तर्भावना-ओंमें परिवर्तन होता जायगा त्यों-त्यों भाषाका स्वरूप भी बद-

लता जायगा। भाषाके परिवर्तनमें देश और काल सहायक होते हैं। कुछ बाह्य कारण भी होते हैं—यथा विदेशी जातियोंका सम्मिश्रण। परिवर्तन अवश्य होते रहेंगे, परन्तु सिर्फ़ परिवर्तन-शीलता ही प्रकृतिका नियम नहीं है। गतिके साथ स्थिति भी प्रकृतिका नियम है। स्थिति और गति दोनों प्राकृतिक नियम है। एक विद्वान्ने बौद्ध-धर्मके सम्बन्धमें लिखा है—

जो नष्ट हो गया उसका पुनरुद्भव होनेका नहीं और जो स्थिर हो गया है उसका लोप भी नहीं होनेका। यही बात हिन्दी-भाषाके विषयमें भी कही जा सकती है। भाषामें जो स्थिरता है उसका प्रधान कारण मनुष्यका धार्मिक संस्कार है। कोई भी मनुष्य अपनी मातृ-भाषाका सहसा परित्याग नहीं करेगा। यदि उसके धार्मिक भाव बदल जायँ तो वह भले ही अपनी भाषा छोड़ दे, पर उसके धार्मिक संस्कार उसपर अपना प्रभाव अङ्कित कर जायँगे।

वर्त्तमान हिन्दी-भाषामें उन भावनाओंका प्रभाव कैसे लुप्त हो सकता है जो वैदिक-युग, बौद्ध-युग, पौराणिक-युग, हिन्दू-मुसलमानके सम्मिलन-युग अथवा पाश्चात्य-प्रभावसे युक्त वर्त्तमान युगमें प्रचलित हुई हैं। अब विचारणीय यह है कि इन युगोंकी क्या विशेषता थी।

वैदिक-युगकी भाषाका नाम है छान्दस् भाषा। इस भाषाका प्रधान उद्देश्य था ऋषियोंके हृदयोत्थित भावोंको अलक्षित शक्तियोंकी ओर प्रेरित करना। वैदिक मन्त्रोंकी भाषा शक्ति-

सञ्चारिणी है, क्योंकि वह मनुष्यके अन्तर्निहित भावको जागृत करनेके लिए ही निर्मित हुई है। उसमें प्राणका आवेश विद्यमान है। सभ्यताके युगमें मनुष्य अपने कितने ही भावोंको छिपानेकी चेष्टा करता है। कृत्रिम आचार-व्यवहारकी जटिलताके कारण वह अपनी भाषामें शब्दोंका जाल रचता है। तब उसकी भाषामें उसके अन्तःकरणका विकृत आभास मिलता है। वैदिक युग ज्ञानका उषःकाल था। तब वाणी अन्तःकरणकी देवी थी। वैदिक युगकी भाषाका यह आदर्श हिन्दू-जातिकी सभी भाषाओंमें परि-गृहीत होगा। इसमें कोमलता नहीं, गम्भीरता है; रस नहीं, शक्ति है; सरस भाव और सरल भाषाके लिये बौद्ध युगकी ओर हमें दृष्टि डालनी होगी। यही प्राकृत भाषाओंका युग है। इनमें गम्भीरताकी अपेक्षा माधुर्य अधिक है। इन दोनोंका सम्मिलन पौराणिक युगमें हुआ। अनार्य्य जातियोंके समावेशसे भारतीय राष्ट्र अधिक व्यापक हो गया था, अतएव उसकी भाषामें भी व्यापकता आनी चाहिए। भाषाका रूप परिवर्तित हुआ, अनेक भाषाओंकी सृष्टि हुई। परन्तु आदर्श प्राचीन ही रहा। जब मुसलमानोंका आधिपत्य भारतपर हुआ तब उनकी भाषानें भारतीय भाषाको एक नये साँचेमें ढाल दिया। ग्रामीणों ने तो अपनी भाषाकी रक्षा की, पर नगरोंमें नवीन सभ्यताकी प्रचार-वृद्धिसे भाषाका नवीन रूप शीघ्र ही स्थिर हो गया। यही हिन्दीकी उत्पत्ति-कथा है। कई सभ्यताओंके मेलसे उसने यह रूप धारण किया है। अब पाश्चात्य भाषाओंका भी प्रभाव उस-

पर पड़ने लगा है। जो भाषायें हिंदीके निर्माणमें सहायक थीं उनका प्रभाव तो मिट नहीं सकता। परंतु सबसे अधिक प्रभाव संस्कृतका रहेगा, क्योंकि राष्ट्रीय भावनाका स्रोत उसीसे उद्-गत हुआ। पण्डित सतीशचन्द्र विद्याभूषणने एक बार कहा था कि भारतवर्षमें जितनी भाषायें प्रचलित हैं उन सबका आदर्श संस्कृत भाषा ही होना चाहिये। जैन, बौद्ध तथा अन्य धर्मा-वलम्बियोंने जिन-जिन भाषाओंमें अपने साहित्यकी रचनाकी है उनके साथ संस्कृतका अपरिहार्य सम्बन्ध है। यह सच है कि संस्कृत कभी भारतकी कथित भाषा नहीं थी। परन्तु भारतीय सभ्यता और राष्ट्रीयताका समस्त भाव संस्कृत भाषामें ही विद्यमान है। अतएव कथित भाषा न होनेपर भी आदर्श रूपमें उसको हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा। कुछ विद्वान हिन्दी और उर्दूका तो संगम देखना चाहते हैं, परन्तु संस्कृतके शब्द उन्हें अभीष्ट नहीं। यदि हिन्दी-भाषाका प्राण हिन्दू-धर्म है तो संस्कृतसे उसका दृढ़ सम्बन्ध रहेगा और हम संस्कृतसे यथेष्ठ शब्द लेते रहेंगे। यदि आज हिन्दी भाषा-भाषियोंके लिए संस्कृतके शब्द अपरि-चित हो गये हैं तो इससे उनकी धार्मिक हीनता सूचित होती है। कुछ लोग कहते हैं कि अनावश्यक संस्कृत शब्दोंका प्रयोग अनुचित है। यह कहना तो बिलकुल सच है, पर भाषामें आव-श्यकता और अनावश्यकताका निर्णय करना सरल नहीं है। यह तो निश्चित है कि बोलचालकी भाषामें परिवर्तन होता रहता है और उसीके साथ साहित्यिक भाषामें भी परिवर्तन होगा।

परन्तु साहित्यिक भाषामें सर्वत्र समानता कभी नहीं रहेगी। उसका कारण है लेखकका व्यक्तित्व। कितने ही ऐसे प्रतिभाशाली लेखक होते हैं जो भाषाकी नवीन रचनातक कर डालते हैं। पर उनकी भाषा उन्हींकी रहती है। दूसरे लोग उनका अनुकरण ही नहीं कर सकते। हम यह नहीं कहते कि भाषा और साहित्य में कोई नियम ही नहीं है। नियम तो बनेंगे ही, पर वे नियम सदैव परिवर्तनशील रहेंगे। हमारे कहनेका मतलब यह हैं कि जो लोग सरलताके विचारसे भाषाके क्षेत्रको सीमाबद्ध करना चाहते हैं उन्हें यह समझ रखना चाहिए कि कभी कोई ऐसी सीमा निर्धारित नहीं हो सकती है जो प्रतिभावान् लेखकके लिये अलंघ्य हो। यदि यही बात है तो भाषाको सङ्कुचित करनेके लिए व्यर्थ चेष्टा क्यों की जाय। क्या भाषामें और क्या भावमें, भारतवर्षने सदैव दूसरोंको अपनानेकी चेष्टाकी है। उसने अपनी विशेषताको अक्षुण्ण रखकर सभीसे जो चाहा ग्रहण किया। हिन्दी-भाषा पर विदेशियोंका प्रभाव प्रत्यक्ष है, पर उससे हिन्दीका हिन्दूत्व नष्ट नहीं हुआ। एक विद्वान्का कथन है कि मुसलमानोंके संसर्गसे ही हिन्दीमें तुकान्त कविताओंका उद्भव हुआ। पर हिन्दी कविताओंमें हिन्दू-कवित्व-कलाका पूर्ण निदर्शन हुआ है। सबसे सम्पर्क रखकर भी हिन्दी हिन्दी ही बनी रहेगी, वह उर्दू नहीं होगी। यदि इस्लाम धर्मका प्रभाव नष्ट हो सकता है तो उर्दूका लोप होना भी सम्भव है। उसी प्रकार हिन्दू-धर्मके साथ हिन्दी-साहित्यका अस्तित्व है।

जो बात भाषाके लिए कही गयी है वही साहित्यके लिए भी कही जा सकती है। साहित्यके द्वारा अपनी राष्ट्रीयताकी रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रायः राष्ट्रीयताके नामसे अनुदार भावोंका प्रचार किया जाता है। पर हमें स्मरण रखना चाहिए कि राष्ट्रीयता अनुदार भावोंकी पोषक नहीं है। जैसे व्यक्तित्वकी रक्षा करनेसे समाजकी मर्यादा भङ्ग नहीं हो सकती, वैसे ही राष्ट्रीय साहित्यकी उन्नतिसे विश्व-साहित्यकी हानि नहीं होती, प्रत्युत वृद्धि होती है। परन्तु साहित्यमें राष्ट्रीयताका निर्णय करना सरल नहीं है। आज-कल हिन्दीमें वर्त्तमान राजनैतिक आन्दोलनसे सम्बन्ध रखनेवाले जो ग्रन्थ प्रकाशित होते हैं वही प्रायः राष्ट्रीय साहित्यके अन्तर्गत समझे जाते हैं। अधिकांश लोगोंकी यही धारणा है कि राजनीति ही राष्ट्रीयताकी परिचायक है। परन्तु हमें जान लेना चाहिए कि राजनीतिसे राष्ट्रीयता कभी निर्मित नहीं हुई है। राष्ट्रीयताका प्रधान कारण है एक देश। एक देशकी ही भावनासे राष्ट्रीय भावोंकी जागृति होती है। जब सब लोग यह समझते हैं कि यही हमारा देश है—इसके वन, पर्वत, नदी, झील, हमारे हैं—इसकी सम्पत्ति हमारी है, हममेंसे प्रत्येक उस सम्पत्तिका उपभोग कर सकता है—तब हमें समझ लेना चाहिए कि ये लोग एक राष्ट्रके हैं। देशकी प्राचीन भाषा और साहित्य देशकी राष्ट्रीयताका प्रधान संरक्षक है। उसके द्वारा उन संस्कारोंकी पुष्टि होती है जिनसे राष्ट्रकी विशेषता बनी रहती है। भारतवर्षमें दो सभ्यताओंका

सङ्गम हुआ है। हिन्दू-जातिकी प्राचीन भाषा और साहित्य मुसलमानोंकी प्राचीन भाषा और साहित्यसे पृथक् है। इन दोनोंके धार्मिक संस्कारोंमें भी विभिन्नता है। अब प्रश्न यह है कि क्या हिन्दू-जाति अपने उन संस्कारोंको भूल सकती है जिनके कारण वह आजतक अपनेको आर्य-जातिकी सन्तति कहती है ? क्या मुलसमानोंके लिये यह भूल जाना उचित है कि उनके तीर्थस्थान मक्का और मदीना हैं ? यथार्थमें राष्ट्रीय साहित्य का काम उन्हीं भावोंको पुष्ट करना है जिनसे हिन्दू हिन्दू और मुसलमान मुसलमान बने रहें। इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि साहित्यका उद्देश सत्यकी उपलब्धि है और सत्य सार्वजनीन है। तब उसके आदर्शमें राष्ट्रीयताकी प्रधानता कैसे सम्भव है ? हिन्दू-धर्म भी तो सार्वदेशिक सत्यको ही प्रकट करता है। सच यह है कि जातीय भावमें भी सार्वजनीन भाव होना चाहिए और धर्मको देश-कालकी सीमासे वद्ध नहीं करना चाहिए। परन्तु यह भी सच है कि देश और कालके ही द्वारा धर्मका प्रकाश होता है। धर्मका स्वरूप सार्वभौमिक है सही, किन्तु इतिहासमें धर्म भिन्न-भिन्न अवस्थाओंको अतिक्रमण कर अपने सार्वभौमिक स्वरूपको उपलब्ध करता है। समाज और राष्ट्रमें भी यही चेष्टा देखी जाती है। देश और कालसे पृथक् न तो कोई सार्वजनीन धर्म है और न कोई राष्ट्र पृथक् विश्वसाहित्य है। विद्या और विज्ञानके वृद्धिके लिये भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमें साहित्यका आदान-प्रदान तो होता ही रहेगा,

और यह सैकड़ों वर्षोंसे हो रहा है। परन्तु इससे किसी जातिकी जातीयता लुप्त नहीं होती। साहित्यक्षेत्रमें तो हिन्दू-मुसलमान-का सम्मिलन तभी हो गया था जब मुसलमानोंके अभ्युदयका आरम्भ हुआ। दोनोंने अपनी-अपनी विशेषताको क़ायम रखकर एक दूसरेसे यथेष्ठ ज्ञान ग्रहण किया। आज एक देशकी भावनाने हिन्दू और मुसलमानको एक भारतीय राष्ट्रमें परि-णत कर दिया है। परन्तु इसका परिणाम यह कभी नहीं होगा कि दोनों अपनी विशेषताओंको खो बैठें। यदि ऐसी आशङ्का हो तो साहित्यमें संरक्षण-नीतिका अवलम्बन किया जाना चाहिए।

४—कविताका स्वरूप

मनुष्य-मात्रका यह स्वभाव है कि वह अपने ज्ञानके रूपको परिमित देखना नहीं चाहता। जब वह देखता है कि उसकी बुद्धि काम नहीं देती, तब कल्पनाका आश्रय लेता है। इस प्रकार काव्यकी सृष्टि होती है। बाह्य जगत् मनुष्योंके अन्तर्जगत्में प्रविष्ट होकर एक दूसरा ही रूप धारण कर लेता है। जड़के साथ चेतनका सम्मिलन होता है। जो बुद्धिका अवलम्बन करते हैं, उनके लिये सूर्योदय एक साधारण घटना है, हिमालय एक पर्वत है, और मन्दाकिनी एक नदी है। परन्तु कवि कल्पनाके द्वारा, सूर्योदयमें उषा-देवीका दर्शन करते, हिमालयमें भगवान् शिवका विराट रूप देखते, और मन्दाकिनीमें मातृमूर्ति देखकर गद्गद् हो जाते हैं। अंगरेजीके प्रसिद्ध लेखक मेकालेकी राय है कि ज्यों-ज्यों सभ्यताकी वृद्धि होती है, त्यों-त्यों कवित्वका ह्रास होता है। उनके इस कथनका अभिप्राय यही है कि ज्यों-ज्यों मनुष्योंमें प्राकृतिक भाव नष्ट होता जाता और कृत्रिमता आती जाती है, त्यों-त्यों वे प्रकृतिका संसर्ग छोड़कर संसारमें प्रवेश करते जाते हैं, और उनका जीवन-रस सूखता जाता है। जीवनके प्रभात-कालमें किसको यह जगत् सुन्दर नहीं मालूम होता? उस समय हम पवनसे क्रीड़ा करते हैं, फूलोंसे मैत्री रखते हैं,

और पृथ्वीकी गोदमें निश्चित विश्राम करते हैं। उदीयमान सूर्यकी प्रभाके समान हमारा जीवन निर्मल, सौम्य और मधुर रहता है। परन्तु जीवनके मध्याह्न-कालमें हमारी दृष्टिमें प्रकृतिका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। संसारके अनन्त कार्यों में लगकर हम केवल विश्वके विषम संतापका ही अनुभव करते हैं। सब कुछ वही है, हमीं दूसरे हो जाते हैं। पहिले हम वर्षाकालमें कीचड़का कुछ भी ख़याल न कर आकाशके नीचे, पृथ्वीके वक्षःस्थलपर विहार करते थे। जब जलके छोटे-छोटे स्रोत कल-कल करते, हंसते-नाचते, थिरकते और बहते जाते थे, तब हम भी उन्हींके साथ खेलते-कूदते और दौड़ते थे। परन्तु सभ्य होनेपर हमें वर्षामें कीचड़ और गँदलेपनका दृश्य दिखाई देता है और हम अपने संसारको नहीं भूलते। वाल्मीकि और तुलसीदासके वर्षा-वर्णनमें हम यह बात स्पष्ट देख सकते हैं। दोनों विख्यात कवि हैं, दोनोंने एक ही विषयका वर्णन किया है। परन्तु जहां वाल्मीकिके वर्णनमें हम प्रकृतिका यथार्थ रूप देखते हैं, वहीं तुलसीदासके वर्णनमें संसारकी कुटिलताका परिचय पाते हैं। इसका कारण यही है कि वाल्मीकिने तपोवनमें कविता लिखी थी, और तुलसीदासने काशी अथवा अन्य किसी नगर में।

कवि पर देश-कालका यही प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव कविकी कल्पना-गतिका बाधक नहीं होता, तो भी इसमें संदेह नहीं कि उसीके कारण कविकी कल्पना एक निर्दिष्ट पथ पर ही विचरण करती है। होमर सीताकी कल्पना नहीं कर सकता था,

और न वाल्मीकि हेलेनकी सृष्टि कर सकते थे। भिन्न-भिन्न युगोंमें भिन्न-भिन्न भावोंकी प्रधानता होती है। एकही देशमें, भिन्न-भिन्न युगोंके कवियोंकी रचनाओंमें, हम विभिन्न भावों की जो प्रधानता पाते हैं, उसका यही कारण है। सभ्यताके आदि-कालमें जो कवि होंगे, उनकी रचनाओंमें हम भाषाका आडंबर नहीं देखेंगे। उनकी कविता निर्मल जल-धाराके समान सदैव प्रासादिक और विशद रहेगी। परन्तु धन और वैभवसे संपन्न देशमें कवियोंकी रुचि भाषाकी सजावटकी ओर अधिक रहेगी। इतना ही नहीं, उनकी कविताका विषय भी वाह्य जगत् ही होगा।

साहित्यके मुख्य विषय दो ही हैं। अंतर्जगत् और वाह्य जगत्। भिन्न-भिन्न युगोंमें इन दोनोंका संबंध भी भिन्न-भिन्न होता है। कोई भी एक युग ले लीजिए। उस कालकी सभी रचनाओंमें कुछ-न-कुछ सादृश्य अवश्य रहता है। प्राचीन कालमें कवि वाह्यजगतको अंतर्जगत्में मिलाकर एक अभिनव जगत्की सृष्टि करते हैं, जहाँ देवता और मनुष्योंका सम्मिलन होता है। उस समय अंतर्जगत् और बहिर्जगतमें भेद नहीं रहता। पृथ्वी मधु-पूर्ण हो जाती है। तब हमें जान लेना चाहिये कि हम वाल्मीकि व्यास और होमरके सत्ययुगमें पहुँच गए हैं। सभी देशोंके साहित्यमें तीन अवस्थाएँ होती हैं। पहली अवस्थामें साहित्य भाव-प्रवण होता है। यह जागृतिका काल है, जो देशमें नवजीवनका संचार और नवीन भावोंका

प्रचार करनेवाला होता है। पर इससे साहित्यमें अशांति और व्याकुलता फैल जाती है। इस समय नष्ट आदर्शोंके साथ प्राचीन आदर्शोंका संघर्षण होने.पर स्वाधीनता तथा उच्छृंखलता का भाव उदित होता है, साहित्यमें आत्म-केंद्रता और आत्म-सर्वस्वता स्थापित होती है, मनुष्य जीवनसे साहित्यका पार्थक्य हो जाता है। इसके बाद साहित्यकी दूसरी अवस्था होती है, जब अशांति और विप्लवके बाद सामंजस्य-विधानकी आकांक्षा जाग्रत होती है, प्राचीन आदर्शके साथ नवीन भावोंका समन्वय साधन करनेकी चेष्टाकी जाती है, साहित्य और मनुष्यके सामाजिक जीवनमें सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। ऐसे ही तीसरी अवस्थामें साहित्य कविकी कल्पनाकी सामग्री नहीं रहता, वह उसकी साधनाका फल होता है। जब कवि जीवन का लक्ष्य समझ जाता और युग-धर्मको आयत्त कर लेता है, तब वह साहित्यके द्वारा उस ज्ञानका वितरण करता है। सत्यका स्वरूप चिरंतन है, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति जीवनमें ही होती है। अतएव साहित्य उस चिरंतन सत्यको जीवनमें उपलब्ध करनेकी चेष्टा करता है। जब तक मनुष्य प्रकृतिके संसर्गमें रहता है, तब तक वह प्रकृतिमें ही सत्यका स्वरूप देखता है। जब प्रकृतिसे उसका संसर्ग छूट जाता है, तब वह अपनी अंतर्निहित शक्तिमें सत्यका अनुभव करने लगता है। परन्तु वह इस अवस्थाको तुरन्त ही नहीं पा लेता। जब उसकी मानसिक स्थिति प्रकृति और उसके बीच एक व्यवधान खड़ा

कर देती है, तब वह अशांतिका अनुभव करता है अंत में जब वह प्रकृति पर आत्मशक्तिके द्वारा विजय प्राप्तकर लेता है, तब-वस्तु-जगत् की अवहेलना करने लगता है। इसका फल यह होता है कि वह एक अपार्थिव जगतको सत्य मानकर उसी की भित्तिपर अपने सम्पूर्ण जीवनकी रचना करनेका प्रयत्न करता है। जब वस्तु-जगत्के साथ उसका मेल नहीं होता, तब वह एक ऐसे आदर्श-जीवनकी खोज करता है, जिसमें उसका सामंजस्य हो सके। इस प्रकार, भावोंका उत्थान-पतन होनेसे, साहित्यमें भिन्न २ अवस्थायें दृष्टिगोचर होती हैं। योरपमें प्लेटो ने एक आदर्शराष्ट्रकी कल्पनाकी थी। उसमें उसने कवियों और नाटकोंको उच्चस्थान नहीं दिया था। प्लेटोकी यह धारणा थी कि कवियोंका जो वर्णनीय विषय है, उसमें केवल प्रवृत्तियों की उत्तेजना ही बढ़ती है, जिसमें मनुष्यका संयम नष्ट हो जाता है। प्लेटोके मतानुसार वही साहित्य श्रेष्ठ है, जो मनुष्य-को वस्तु-जगत्से आदर्शकी ओर आकृष्ट करे। परन्तु वह आदर्श-जगत् है कहाँ ? मध्ययुगमें वह आदर्श ऐहिक जगत्में नहीं, पारलौकिक जगत्में था। पाप-ग्रस्त और सुख दुःखसे परिपूर्ण होनेके कारण मनुष्य-जीवन किसी भी दृष्टिमें स्तुत्य नहीं था। अतएव तत्तकालीन साहित्यका ध्येय यही था कि मनुष्य-समाजमें पारलौकिक आदर्शोंका प्रचार किया जाय। मनुष्योंकी जो प्रवृत्तियां उन्हें पार्थिव स्नेहकी ओर खींचती थीं वे हेय समझी जाती थीं, और उनका ध्वंस करनेमें जीवन

की सार्थकता थी। कठोर तपश्चर्या और संयमके द्वारा मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्तियोंका दमन किया जा सकता है, परन्तु प्रवृत्तियोंका नाश होनेसे मनुष्य स्वयं अस्वाभाविक हो जाता है। मनुष्यने प्रवृत्तिको मायाविनी कहकर उसका माया जाल तोड़ना चाहा, पर उससे उसके ही अंग क्षत-विक्षत हो गए, समाज उच्छृङ्खल हो गया।

अलक्षित जगत्‌की कामनामें पड़कर जब मनुष्यने ऐहिक जगत्‌के प्रति अपने कर्तव्योंकी उपेक्षाकी तब समाजमें सदाचार और मर्यादाकी रक्षा कौन करता? समाज क्रियाहीन होगया, और अकर्मण्यताके जितने दुष्परिणाम हो सकते हैं, वे प्रकट होने लगे। अनादि कालसे मनुष्य एक चिरंतन आदर्शकी खोज कर रहा है। अपने जीवनकी एक अवस्थामें जिसे वह सत्यका पूर्ण रूप समझकर, ग्रहण करता है, उसीको जीवनकी दूसरी अवस्थामें त्याज्य समझता है। जीवनकी अपूर्णावस्थामें सत्यकापूर्ण रूप कैसे उपलब्ध हो सकता है? फिर मनुष्य जीवनकी सार्थकता किसमें है? योरपके प्रसिद्ध तत्ववेत्ता रूसोका कथन है कि "मनुष्यको सदा मनुष्य ही होना चाहिये। यही उसका पहिला कर्त्तव्य है। सभी अवस्थाओंमें संसारके साथ मनुष्यको मनुष्योचित व्यवहार करना चाहिये। स्वभावसे मनुष्य न तो धनी है, न कुलीन, जन्मके समय सभी निःस्व निःसहाय होते हैं। अपने जीवनमें सभीको सुख-दुःख और आशा-निराशाका अनुभव करना पड़ता है। सभी मृत्युके वशमें हैं। यही मनुष्यकी अवस्था

है। इस नियमका व्यत्यय नहीं होता। यही मनुष्यका मनुष्यत्व है। मनुष्य स्वभावसे दुर्बल है। इसीसे वह समाजका संगठन करता है। अभावके कष्ट और अपूर्णताकी वेदनाने हमें मनुष्य बनाया है।

जिसने कभी दुःखका अनुभव नहीं किया, वह कभी दूसरों-के दुःखको नहीं समझ सकता। हमारी अपूर्णता ही हमारे आनन्दका एक बड़ा कारण है जब हम कभी अपनी अपूर्णताका अनुभव करते हैं, तभी हमें चाह होती है। जिसे किसीकी चाह नहीं है, जो किसी अभावका अनुभव नहीं करता वह प्रेम नहीं कर सकता। जिसके हृदयमें प्रेम नहीं है, वह क्या कभी सुखी हो सकता है।

साहित्य और कलामें जब मनुष्यत्वका आदर्श प्रदर्शित होता है, तब हम वहां इसी अपूर्णताका दर्शन करना चाहते हैं। गौरवके पूर्णरूपमें भी हमें जब कोमलताका आभास मिलता है, तब हमारा चित्त उसकी ओर विशेष रूपसे आकृष्ट होता है। साहित्यमें आदर्शरूपसे जिन पात्रोंकी सृष्टि हुई है, उनके चरित्रमें मानव-स्वभावकी दुर्बलताका चित्र अवश्य अङ्कित होता है। और तभी वे हमारे हृदयमें स्थान प्राप्त कर लेते हैं। यदि उनकी क्षमताकी ओर ध्यान दें, तो हम उनका वह विराट रूप देखेंगे जो हमारे लिये अनधिगम्य है। परन्तु मनुष्यकी सभी दुर्बलता-ओंसे मुक्त होनेपर, उनमें हम अपने जीवनका प्रतिरूप देख लेते हैं। मनुष्योंके स्वभावमें दुर्बलता अवश्य है, परन्तु दुर्बलता

नीचता नहीं है। अन्यायसे किसीकी नीचता नहीं सिद्ध होती। जो दुराचारी हैं, वे भी अन्यायका—यदि उस अन्यायसे उनका कोई स्वार्थ नही है—समर्थन नहीं करते। जहां अपनी हानि या लाभ नहीं है, वहां दुष्ट भी दूसरोंकी दुष्टताको सफल नहीं देखना चाहते। इच्छा अपनी वस्तु है। परन्तु उसके अनुसार कर्म करनेकी क्षमता सभीमें नहीं रहती। जब हम किसी प्रलोभनमें पड़कर कोई काम करते हैं, तब दूसरोंसे अभिभूत होते हैं। तब उसके लिये हमें जो अनुताप होता है, उससे हमारी हृद्गत इच्छाका स्वरूप प्रकट होता है। जबतक हम अपने अवगुणोंके अधीन हैं, तबतक दासत्व बन्धनमें पड़े रहते हैं। जब हम अनुतप्त होते हैं, तब मुक्त हो जाते हैं। अतएव मनुष्यके लिये जिस प्रकार किसी भी इच्छाके वशीभूत होकर प्रलोभनमें पड़ना स्वाभाविक है, उसी प्रकार उसका अनुतप्त होना भी उसके स्वभावके अनुकूल है।

साहित्यमें लेडी मैकबेथके समान नृशंस 'चरित्रों' के हृदयमें कोमलताका जो अंश है, वह इसीका सूचक है। सभी श्रेष्ठ कला-कोबिदोंकी सृष्टिमें हम वेदना और अनुतापका प्राधान्य अवश्य पावेंगे।

कविताकी उत्पत्तिके विषयमें भारतवर्षमें, जो कथा प्रसिद्ध है उससे यह भली भांति सिद्ध होता है कि वेदनाकी अनुमतिसे ही मनुष्यके हृदयमें स्वर्गीय भावका उद्रेक होता है। क्रौंचका बध देखकर आदि-कविके हृदयमें जो शोक हुआ था, वही श्लोक

के रूपमें व्यक्त हुआ। विश्वकी वन्दनासे सहानुभूति रखकर कविने चरम सौन्दर्यकी सृष्टि की। उनकी कृतिमें धर्मकी विजय और पापकी पराजयही की कथा नहीं है, दुःखकी विजय और त्यागकी महत्ता भी वर्णित है। रामचन्द्रका गौरव लंका-विजय अथवा रावण-वधपर प्रतिष्ठित नहीं है, उनका यथार्थ गौरव तपस्वीके रूपमें है, जिसने सदैव कर्तव्यके लिये दुःखका आलिङ्गन किया। दुःखकी यह महत्ता साहित्यके सभी श्रेष्ठ ग्रन्थोंमें प्रदर्शित हुई है। वियोगांत नाटकोंकी सृष्टि भी इसी महत्ताको दिखानेके लिये हुई है। उन नाटकोंमें हम प्रायः धर्म-विजय नहीं देखते। इसके विपरीत पाप ही की विजय देख पाते हैं। परन्तु धर्मका पथ सुखमय नहीं होता। यदि वह सुखमय होता तो कदाचित् उसका गौरव भी नष्ट हो जाता। यही कारण है कि वियोगान्त नाटकोंमें पराजित व्यक्ति हीके प्रति हमारी सहानुभूति अधिक होती है।

दुःखानुभूतिकी विशेषता यही है कि उससे सहानुभूति व्यक्त होती है। संसार दुःखपूर्ण है, मनुष्योंका जीवन दुःखमय है। इसीलिये इस संसारमें प्रेम और सहानुभूतिकी प्राप्ति हो सकती है। यही कारण है कि साहित्य और कलामें करुण रस सबसे श्रेष्ठ माना गया है। इस मर्त्यलोकमें जीवन और मृत्युकी जो लीला हो रही है, मनुष्योंके हास्यमें भी करुण वेदनाकी जो ध्वनि उठ रही है, क्षणिक संयोगके बाद अनन्त वियोगकी जो दारुण निशा आती है, उसीसे मर्माहत होकर कविके हृदयसे

विश्व-वेदनाका उद्गार निकलता है, जिसके स्वरसे व्यथित हृदयमें भी शान्ति आ जाती है।

कविके कर्तव्यके विषयमें ह्विटमैनने लिखा है। "कवियोंके लिये कोई भी विषय छोटा नहीं है, जिसे साधारणजन शूद्र समझते हैं, वह भी कविके हाथोंमें पड़कर महान हो जाता है। कवि उसमें नया जीवन डाल देता है। कवि द्रष्टा है। उसमें और दूसरे लोगोंमें इतना ही भेद है कि वह देखता है, और दूसरे देखते नहीं; और जब वे देखते हैं, तब कवि हीकी दृष्टिसे देखते हैं। कवित्व-गुण न तो शब्दोंके झंकारमें रहता है, और न वयमक और अनुप्रासके आडंबर में। न वह शिक्षा-पूर्ण पद्योंमें है, और न विषादात्मक रचनाओंमें। उसका जन्म स्थान आत्मा है। इसलिये जिस रचनाका सर्वस्व आत्माका विकास नहीं, वह कविता ही नहीं।

कवि समस्त विश्वका प्रेमी है। उसके जीवनका आधार यही अनन्त प्रेम है। जो दूसरेके लिये विघ्न-स्वरूप हैं; वे उसके प्रेमा-नलमें आहुतिका काम करते हैं उनके सम्पर्कसे उसका आनन्द और भी अधिक बढ़ जाता है। उसके लिये बाधा है ही नहीं; और न दुःख है, न मृत्यु है, न अन्धकार है, न भय है। कवि न तो सदुपदेश देता है, और न लेता है। वह अपनी आत्माको जानता है। इसीमें वह अपना गौरव समझता है। इस आत्म-गौरवके साथ उसकी सहानुभूति अनन्त है। इसी भावके कारण वह विश्वको अपनेमें और अपनेको विश्वमें देखता है।

५—हिन्दी कविताकी गति

कितने ही विद्वानोंकी राय है कि जातीय अभ्युदयसे ही साहित्यका अभ्युदय होता है। उदाहरणके लिये प्राचीन और अर्वाचीन साहित्यके इतिहाससे कई प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं। प्राचीन योरपमें पेरीक्लिसके समयमें एथेन्सकी क्षमता खूब बढ़ीचढ़ी थी। उसी समय ग्रीक-साहित्यकी भी श्री-वृद्धि हुई। आगस्टसके शासन-कालमें रोम अपनी पार्थिव प्रभुताके लिये जितना प्रसिद्ध था उतना ही साहित्य-सम्पत्तिके लिये। इङ्गलैंड-का सौभाग्यसूर्य एलिजाबेथके समयमें उदित हुआ और उसी समय इङ्गलैंडके श्रेष्ठ कवि उत्पन्न हुए। फ्रांसमें चौदहवें लूईका युग साहित्य और राष्ट्रीय वैभव, दोनोंके लिये विख्यात है। भारतीय साहित्यमें भी गुप्त वंश और श्री हर्षके कालमें साहित्यकी जैसी उन्नति हुई वैसी ही उन्नति देशके ऐश्वर्यमें हुई। उपर्युक्त बातें सच होनेपर भी यदि यही सिद्धांत मान लिया जाय तो आत्माके ऊपर वाह्य शक्तिका प्राधान्य स्वीकार करना पड़ेगा। परन्तु सच पूछो तो इस मतका समर्थन किसी प्रकार नहीं किया जा सकता। यदि साहित्यका अभ्युदय एकमात्र राष्ट्रशक्तिके ऊपर निर्भर है तो अठारहवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें जर्मनीमें साहित्यकी जो उन्नति हुई वह सम्भव नहीं थी। उस समय

जर्मनी राष्ट्रीय शक्तिसे शून्य था। जब नेपोलियनने जर्मन जाति-को पददलित कर जेनानगरमें प्रवेश किया तब उस नगरमें जर्मनीका श्रेष्ठ कवि गेटी और श्रेष्ठ दार्शनिक हीगल, दोनों उपस्थित थे। जर्मन जातिने पीछेसे अपनी बड़ी उन्नति की। उसकी क्षमता भी खूब बढ़ी। पर साहित्यकी जो स्थायी सम्पत्ति गेटी और हीगलके समयमें एकत्र हुई वह फिर कभी न हुई। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि श्रेष्ठ साहित्य जातीय अभ्यु-दयका फल है। बात यह है कि जब किसी युगमें किसी देशकी जातीय आत्मा जाग्रत होती है तब देशमें एक नवीन शक्ति उत्पन्न होती है। वह शक्ति कितने ही रूपोंमें प्रकट होती है। पेरीक्लिस-के समयमें उस शक्तिकी अभिव्यक्ति एथेन्सकी पार्थिव-समृद्धिके विकासके साथ ही साहित्यकी भी श्रीवृद्धि हुई। कभी-कभी वह शक्ति बाह्य व्यवधानोंके कारण किसी एक ही क्षेत्रमें विकसित होती है। कभी वह देशकी समृद्धिको बढ़ा देती है, तो कभी वह साहित्यको ही श्री-सम्पन्न कर देती है। यह चैतन्य शक्ति देशके स्वाभाविक विकासका फल है। हिन्दी-साहित्यके इतिहास-में भी यही बात देखी जाती है। हिन्दी-साहित्यकी उत्पत्ति और वृद्धि हिन्दू-जातिकी हीनावस्थामें ही हुई है। परन्तु वह एक शक्तिका ही फल है। अब विचारणीय यह है कि वह कौनसी शक्ति थी जिससे हिन्दी-साहित्यकी सृष्टि हुई है। भारतवर्षमें एक हजार वर्षतक बौद्धधर्मका आधिपत्य था। जब उसके स्थानमें नव-हिन्दू-धर्म प्रतिष्ठित हुआ तब वह ब्राह्मणों-

का विजय माना गया। बौद्ध धर्मकी हीनावस्थामें जो नवीन संस्कृत-साहित्य निर्मित हुआ उसमें बौद्ध धर्मके अत्यन्त ग्लानि-कर चित्र अंकित किये गये हैं। ब्राह्मणों द्वारा अंकित किये गये ये चित्र बौद्ध धर्मकी यथार्थ अवस्थाके द्योतक नहीं हो सकते। बौद्ध मतके अधिकांश अधिकारी विलासितामें भले ही पड़ गये हों, पर उससे बौद्ध धर्म पर लाञ्छन नहीं लगाया जा सकता। किन्तु विजेता ब्राह्मणोंको इसकी परवा नहीं थी। उन्होंने सभी बौद्ध यतियोंके जीवनमें पापाचार ही देखा और हिन्दू समाजमें सदाचार फैलानेका भार अपने ऊपर लिया। नवीन हिन्दू धर्म-की सभी व्यवस्थायें संस्कृत भाषामें लिपिबद्ध हुईं। जन साधारणसे उनका जरा भी सम्पर्क नहीं था। यदि किसीको किसी धार्मिक कृत्यमें सन्देह होता तो उसे किसी पंडितसे व्यवस्था लेनी पड़ती। इसका परिणाम यह हुआ कि समाजमें हिन्दू धर्मके आदर्शका प्रचार न हो सका। तब धार्मिक कृत्योंके आडम्बरमें सदाचारका लोप हो गया। स्मृति अथवा दर्शन-शास्त्रकी जटिल समस्याओंसे सर्वसाधारणको सन्तोष नहीं हो सकता। उन्हें तो लौकिक साहित्यकी आवश्यकता थी। उनके असन्तोषको दूर करनेके लिये हिन्दीमें वैष्णव-साहित्यकी सृष्टि हुई। उनका धार्मिक असन्तोष उससे बिलकुल दूर हो गया। जब हिन्दीमें धार्मिक भाव प्रकट होने लगे तब पंडितोंने उसका खूब विरोध किया। संस्कृत भाषा विद्वानोंकी भाषा थी और हिन्दी सर्व-साधारणकी। अतएव हिन्दी साहित्यको जनता

ने तो अपनाया, पर विद्वानोंने उसको तिरस्कारकी दृष्टिसे देखा। कबीरके निम्नलिखित दोहोंसे यह बात अच्छी तरह सूचित होती है।

संस्कृतहिं पंडित कहैं बहुत करैं अभिमान।
भाषा जानि तरक करैं तो नर मूढ़ अजान॥
संसकिरत संसारमें पंडित करे बखान।
भाषा भक्ति दृढ़ावही न्यारा पद निरवान॥

हृद्गत भाव जनताकी ही भाषामें अच्छी तरह व्यक्त किये जा सकते हैं, सर्व-साधारण संस्कृत-साहित्यकी ओर पूज्य भाव अवश्य रखते थे, परन्तु उनका हृदय तो उन्हीं भावोंको ग्रहण कर सकता है जो उनकी भाषामें व्यक्त किये जायँ। अतएव विद्वानोंसे अनादृत होने पर भी हिन्दी साहित्यका प्रचार बढ़ने लगा। धार्मिक भाव तो वैष्णव साहित्यके द्वारा प्रचलित हुए और स्वाधीनताका भाव भाटों और चारणोंने जाग्रत रक्खा। चन्द कवि हिन्दीके प्रथम कवि माने गये हैं। उनकी रचनामें हिन्दू साम्राज्यकी निर्वाणोन्मुख शक्तिका वर्णन है। उनके बाद राजपूत चारणोंने ही जनताको स्वाधीनताका सन्देश दिया उनकी रचनायें भले ही लुप्त हो जायं, पर राजपूतोंका स्वाधीनता प्रेम उन्होंने ही अक्षुण्ण रक्खा। हिन्दी साहित्यके आदिकालमें केवल धार्मिक भावोंकी प्रेरणासे उसकी उन्नति हुई। हिन्दूसाम्राज्यका गौरव नष्ट हो गया था। हिंदू जातिने मुसलमानोंका आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। यह सच है कि मुसलमानोंके शासन

कालमें भारतीय ऐश्वर्य नष्ट नहीं हुआ था। देश धन-धान्यसे पूर्ण था। भारतीय सम्पत्तिपर भारतीयोंका ही आधिपत्य था। तो भी यह कहना अनुचित नहीं कि हिंदूजातिका सौभाग्य सूर्य अस्त हो गया था। ऐसी अवस्थामें हिंदीके धार्मिक साहित्यने बड़ा काम किया। यह साहित्य उदार भावोंसे पूर्ण है। इसीने नीचों और अधमोंके लिये भी प्रेमका द्वार खोल दिया। सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई कि हिंदी साहित्यके ही द्वारा हिंदू और मुसलमानोंमें एकताका पहला सूत्रपात हुआ। कुछ विद्वानोंकी राय है कि हिन्दू समाजमें एकेश्वरवादका प्रावल्य मुसलमानोंके ही कारण हुआ। किसी-किसीकी यह भी सम्मति है कि हिन्दी-साहित्यमें तुकान्त कविताओंका प्रचार मुसलमानोंने ही किया। कुछ भी हो, इसमें तो सन्देह नहीं है कि मुसलमानोंके शासनकालमें हिन्दी-साहित्यका प्रचार बढ़ा। पर यह कहना कठिन है कि यदि भारतवर्षमें मुसलमानोंका आगमन न होता तो हिन्दी-साहित्यका कैसा स्वरूप होता। हां, इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि हिन्दीके आदिकालमें भक्तिवादका आविर्भाव अवश्यम्भावी था। हिन्दू-समाजमें जो जीवनधारा बह रही थी उसकी गति मुसलमानोंके आगमनकालके पहलेसे ही निर्दिष्ट थी। न तो मुसलमानोंके आक्रमणने और न उनके शासनकालने ही उसकी गतिमें बाधा दी। भारतवर्षका सामाजिक संगठन ही ऐसा था कि राजनैतिक क्षेत्रमें उत्क्रान्ति होनेपर भी भारतीय समाज

उससे क्षुब्ध नहीं होता था। राजनैतिक क्षेत्रमें उत्थान पतन होता रहा, पर समाज अपने निर्दिष्ट पथपर स्थिर रहा। जब हिन्दू-साम्राज्य नष्ट हुआ और मुसलमानोंका आधिपत्य स्थापित हुआ तब भी उसकी गति स्थिर रही। पानीपतके युद्धने भारतीय साम्राज्यको मुगलोंके हाथ सौंप दिया। पर भारतीय समाज ने अपनी सत्ता कायम ही रक्खी। यदि समाजकी अवस्था परिवर्तित हुई तो उसका कारण राजनैतिक नहीं था। वह समाजके ही भीतर विद्यमान था। उसे जाननेके लिये हमें तत्कालीन साहित्यका अवलोकन करना होगा। कबीर, दादू आदि सन्तोंने जिन भावनाओंका प्रचार किया वे हिन्दू जातिकी सृष्टि है। इन भावनाओंको हिन्दी-साहित्यने अपने परम्परागत-साहित्यसे प्राप्त किया है। इन्हींके कारण आधुनिक भारतवर्ष वैदिक कालके भारतवर्षसे अपना सम्बन्ध अक्षुण्ण रखनेमें समर्थ हुआ है। भारतवर्षमें अनादिकालसे एक भावा स्रोत बह रहा है। उस स्रोतका उद्गम वैदिक ऋषियोंके तपोवनमें हुआ था। कभी इस स्रोतकी गति तीव्र हुई है और कभी मन्द। परन्तु वह लुप्त नहीं हुई है। यह अभीतक विद्यमान है और जबतक हिंदू जातिका अस्तित्व है तबतक इसका लोप नहीं होगा। यह भावना-स्रोत क्या है, यह जाननेके लिये हमें एक बार अपने पूर्ववर्ती साहित्यपर दृष्टि डालनी होगी। सभी जातियाँ किसी आदर्शकी प्राप्तिके लिये चेष्टा करती हैं। यह आदर्श उनकी सभ्यतामें परिस्फुट होता है, अथवा यह कहना

चाहिये कि ज्यों-ज्यों उनकी सभ्यतामें उस आदर्शकी अभि-व्यक्ति होती है त्यों त्यों उनकी सभ्यताकी वृद्धि होती है। यह आदर्श क्या है, जीवनकी पूर्णता। प्रत्येक जाति एक 'श्रेष्ठ' मनुष्यकी कामना करती है। जैसे वृक्षमें जड़से लेकर फूल पत्ते तक सबकी यही चेष्टा रहती है कि फलमें श्रेष्ठ बीज हो, जैसे वृक्षकी समस्त शक्तिका चरम परिणाम बीज होता है, वैसे ही मनुष्य समाज भी एक मनुष्यमें अपनी शक्तिका परम परिणाम प्रत्यक्ष देखना चाहता है। वही उसका आदर्श है। उसके आगे उसकी शक्ति नहीं जा सकती है। अब प्रश्न यह है कि भारतवर्ष का कौन सा आदर्श था ? उसने अपने श्रेष्ठ मनुष्य को किस रूप में देखा ? भारतीय साहित्यमें जो चरित्र आदर्श रूपसे अंकित किये गये हैं उन सभीके जीवनमें हम एक बात पाते हैं। वह है त्यागकी महत्ता। यह त्याग अपने जीवनको रिक्त करनेके लिये नहीं किया जाता, किन्तु उसको पूर्ण करनेके लिये। प्रेमकी चरम सीमा त्यागमें है। धर्मकी भी अंतिम अवधि त्याग है। इसी भावनाके कारण भारतीय साहित्यमें दुखका दमन नहीं किया गया है, किन्तु दुखको अंगीकार कर उसे सुखका रूप दिया गया है। जो संग्रह करना चाहता है वह मानों अपने अधिकारकी सीमाको संकुचित करता है। विश्वसे अपना सम्बन्ध छोड़कर एक क्षुद्र सीमामें वह निवास करता है। परन्तु त्यागसे वह विश्वको अपना कर लेता है। तब उसका जीवन कम नहीं होता, किन्तु पूर्ण हो जाता है। जल बिन्दु तभी तक क्षुद्र है जब तक

वह अपनेको पृथक् रखता है, किन्तु ज्योंही वह अपनेको अनन्त समुद्रमें त्याग देता है। त्योंही वह स्वयं अनन्त हो जाता है।

हदमें पीव न पाइए बेहदमें भरपूर।
हद-वेहदकी गम लखै तासे जीव हजूर॥
हदमें बैठा कथत है, बेहदकी गम नाहिं।
बेहदकी गम होयेगी तब कछु कथना काहिं॥

वैदिक कालके ऋषियोंने प्रश्न किया—

कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

उसके उत्तरमें कहा गया:—

यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वभुवनमा विवेश।
यो ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः॥

अर्थात् जो देव अग्निमें, जलमें, विश्वभुवनमें प्रविष्ट हो रहा है और जो औषधियोंमें तथा वनस्पतियोंमें हो उसे नमस्कार हो। यही विश्वभावना भारतीय साहित्यका सर्वस्व है। जब लोग विश्व बोधकी इस भावनाको भूल रहे थे तब कबीरको इसीकी चेतावनी देनी पड़ी:—

संपुट मांहि समाइया सो साहिब नहिं होय।
सकल भाण्डमें रमि रहा, मेरा साहिब सोय॥

हमें अब विचार यह करना है कि हिन्दी-साहित्यने अपना कौनसा संदेश दिया है जो वैदिक साहित्य तथा संस्कृत साहित्यसे अधिक विशेषता रखता है। कहते संकोच होता है—

ऐसो अद्भुत मत कथो, कथो तो धरो छिपाय।

वेद कुराना ना लिखी, कहौं तो को पतियाय ॥

यथार्थ बात यह है कि सत्यका स्वरूप चिरन्तन है। हिन्दी साहित्यमें साधकोंने अपने जीवनमें उसी सत्यका अनुभव कर उसे प्रकट किया है। उन्होंने मनुष्य जीवनमें ही सत्यका पूर्ण रूप दिखलाया है। हिन्दी साहित्यकी उत्पत्ति उस कालमें हुई थी जब भारतीय सत्य अनुभूतिका विषय न होकर तर्कका विषय हो गया था। विद्वान् सत्यको ग्रन्थोंमें खोजते थे, मानव जीवनमें नहीं। तर्क और विवादसे सत्यकी उपलब्धि नहीं होती सत्यके धामका मार्ग एक मात्र अनुभूति है—

कबीरका घर शिखर पर, जहाँ सिलहलौ गैल।
पांव न टिकै पपीलिका, पंडित लादै बैल ॥
बिन पांवनका राह है, बिन बस्तीका देश।
बिना पिण्डका पुरुष है, कहै कबीर संदेश ॥

हिन्दी साहित्यके साधकोंका यही संदेशा था। उन्होंने मिथ्या आडम्बर धर्म नहीं समझा। उन्होंने जीवनमें ही सत्य की उपलब्धिका उपदेश दिया।

कांकर पाथर जोरिकै, मसजिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांगदे, क्या बहिरा हुआ खुदाय ॥
पूजा सेवा नेम व्रत, गुडियनका सा खेल।
जबलगि दिल परिचय नहीं, तव लगि संसय मेल ॥

संसारमें अनन्तकालसे विश्वका रहस्य जाननेके लिये चेष्टा की जा रही है। जो साधक भगवानकी लीलाको पृथ्वीपर प्रत्यक्ष

देखना चाहते हैं, वे सहज साधनाओंसे उसे प्राप्त करते हैं। कृच्छ्र साधन-मात्रसे उसका रहस्य समझमें नहीं आता। संतोंने कहा है कि मैंने न तो घर छोड़ा और न मैं वन ही गया। मैंने कोई भी क्लेश स्वीकार नहीं किया। सहज प्रेमसे मैंने पृथ्वी को उसी रूपमें देखा।

जो इस सहजके सहायक होंगे वे विश्वके प्रवाहकी अपनी वासना अथवा लोभके वश क्षणभरके लिए भी रोक रखना नहीं चाहेंगे। यदि विश्वका प्रवाह रुक जाय तो समस्त सौन्दर्य का प्रवाह स्थिर होकर मृत्यु-पुञ्जमें परिणत हो जायगा। जो साधक हैं, वे किसीको भी रोककर, बाधा देकर, स्थिर नहीं करना चाहते। वे मिथ्यासे कलुषित नहीं होते। नदीके प्रवाहके समान मायाका प्रवाह बहता रहता है।

तब उपाय क्या है? क्या निर्विकल्प ध्यान अथवा कृच्छ्र साधनसे इष्टकी प्राप्ति होती है। सन्तोंमें अग्रगण्य साधक जब जब धर्म-साधनमें प्रवृत्त हुए तब वे आंख-कान मूंदकर निर्विकल्प ध्यानमें नहीं डूबे।

पहिले वे असीम और निराकारके ध्यानमें मग्न होकर रूप और रससे दूर हट गये थे। किन्तु उनका सौन्दर्य-प्रिय मन जैसे भावके लिए उत्सुक था वैसे ही रूपके लिये भी व्याकुल था। दोनोंको उपलब्ध करनेके लिये उन्होंने समस्त पृथ्वी खोज डाली। अन्तमें रूपमें ही उन्होंने भावको पाया। उन्होंने कहा है:—

"जिसके लिये मैं जगत् भर ढूंढ़ता फिरा, देखता हूँ वह तो घटमें ही है। प्राणमें बिना डूबे घटका यह रहस्य समझमें नहीं आता। इसलिये रसमें गोता लगाकर मैंने रसके रसका आविष्कार कर लिया।"

साधारण मनुष्य जड़के समान रूपकी पूजा करता है, परन्तु वह रूपको देखता नहीं। इसीसे विश्वमें सौन्दर्य रसका जो स्वाद, जो आनन्द है, वह व्यर्थ ही हो रहा है। उस आनन्दको पानेके लिये हमें जागृत होना पड़ेगा। जागृत आत्मा ही उस आनन्दकी उपलब्धि कर सकता है। जो जड़त्वकी निद्रासे अवच्छन्न हैं वे उस स्वादको कहांसे पा सकते हैं। प्रेम न रहनेसे इस रहस्यका उद्घाटन नहीं हो सकता। इसीसे इस आनन्दका पता भी नहीं चलता—

लोग कहने लगे—सन्त, तुम तो साधक थे, अब शिल्परसिक मात्र हो। रूप और आकारसे तुम्हारा क्या प्रयोजन? तुम अरूप, असीमके सेवक हो। सन्तने कहा—हे साधकगण, ये सब जितने रूप हैं वही हमारी जपमाला है। धर्मके व्यर्थ आचारका पालनकर हमने देख लिया कि उससे हमारा अन्तःकरण पूर्ण नहीं हुआ। भगवान्के जो सुन्दर नाम हैं उनकी उपयुक्त माला विश्वके यही सब आकार हैं। विश्वके जो आकार निरन्तर परिवर्तित हो रहे हैं उन्हींसे भगवानकी मालाका निरन्तर जप हो रहा है:—

उनका कथन है कि घटमें ही सब सुख और आनन्द है।

घटके इस आनन्दका स्वाद पाते ही सभी कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। घटके इस आनन्दका जिसने अनुभव नहीं किया वह कभी सुखी भी नहीं हुआ।

लोग कहते हैं कि यह संसार दुःखमय है। बतलाओ तो किस लिए तुम्हारे चारों ओर ग्रह-नक्षत्र निरन्तर घूम रहे हैं। जो विश्वचक्र घूम रहा है वही तो अमृत-दान करता है। कोल्हूके घूमनेसे जैसे तेल टपकता है वैसे ही विश्व-चक्रके परिभ्रमणसे भाव-सौन्दर्यका अमृत निस्यन्दिल होता है। यदि यह चक्र कभी बन्द हो जाय तो वस्तुके विषम पुञ्जमें पड़कर संसार नष्ट हो जाय। यह चक्र नित्य चल रहा है, इसीलिये अमृत महारसकी धारा भी निरन्तर बहती जा रही है।

विश्वकी रक्षाके लिये यह नित्य यात्रा हो रही है। जिन्हें हम परिवर्तनशील आकार कहते हैं वे मानो पुकार २ कर कह रहे हैं कि हम सब अगम और अगोचरके मन्दिरमें यात्रा कर रहे हैं। इस गोचर-मूर्ति और सौन्दर्यके साथ २ हम भी उसी अगोचरके मन्दिरकी यात्रा कर रहे हैं। वह रस-मन्दिर दूर नहीं है। वह हमारे अन्तःकरणमें है। जब हम उस मन्दिरमें बैठ जाते हैं तब हम देखते हैं कि हमारे मन्दिरमें मोहन आ गये। वह मोहन कैसे हैं:—

यह अखिल ब्रह्माण्ड भगवान्‌का लीला-क्षेत्र है। यहाँ सदैव सौन्दर्य परिस्फुट होते हैं, सर्वदा उत्सव होते रहते हैं। सन्त उसीका अनुभव कर संसारके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गये। तब

उन्होंने कहा—हे परमेश्वर ! तुम्हारा पवन, तुम्हारा चन्द्र, तुम्हारा सलिल, तुम्हारा सूर्य सभीने मुझको मुग्ध कर रक्खा है। सप्त-सागर धरणीधरा, अष्टकुल पर्वत मेरु, जिधर देखता हूं उधर ही मुग्ध हो जाता हूँ। हे जगजीवन, तुम्हारा त्रिभुवन देखकर नेत्र शीतल हो गये। इन सभी सौन्दर्यों के भीतर तुम्हारी ही पूजा शोभा पा रही है।

सन्तने कहा—मैं रूप और सौन्दर्यके लिए इतना व्याकुल हूँ, पर इससे यह ख्याल मत करना कि मैं रूपसे अतीत, निर्विकल्प और निराकारके धामसे अपरिचित हूँ। वहींके तीर्थमें गोता लगानेसे मैं मोहनके इस विचित्र धामका रहस्य समझ गया हूँ। मैं निवासी तो उसी देशका हूँ। केवल रस-मिलनकी आकांक्षासे 'एक-रस' देशसे इस 'विचित्र-रस' देशमें आया हूँ। उसी देशका निवासी होनेके कारण मैं इस सुन्दर विचित्र धामका उपभोग कर सकता हूँ। वेद और कुरान इस रहस्यको क्या जानें ? रसके इस रहस्य-लोकमें उनका प्रवेश नहीं। अरूपसे ही रूपकी सार्थकता है। भावमें ही आकारकी सफलता है। तिलका प्राण तेल है, फूलका जीवन सुगन्ध है, दूधके भीतर नवनीत ही जीवन है, परमात्मामें ही आत्माका यथार्थ जीवन है।

उनका कहना है, कि मैंने रूपके अतीतको देख लिया है तभी उस रूपका उपभोग कर सकता हूँ। रूपको पानेके लिये तृष्णा ही नहीं होती। रूप धामसे आया हूँ तभी हमारा रोम २ रसकी पिपासासे व्याकुल हो पुकार रहा है—हे विधाता, हमारे हृदयमें

भाव-घनकी घटा छाकर रसवर्षण करो। हमारी समस्त देह रसना होकर तुमको आस्वादन करना चाहती है; वाणी होकर तुम्हारा ही यशोगान करना चाहती है; नेत्र होकर तुम्हारे अपरूप रूपको देखना चाहती है। तुमसे विरह हुआ है तभी मैं इस रूप वैचित्र्यको देख सका हूँ। यही विरहीकी दृष्टि है।

हम लोगोंमें विरहकी बड़ी व्याकुलता है। समस्त भुवनको पाकर भी हमें तृप्ति नहीं होती। बात यह है कि यह विरह उसीकी तृष्णा है। वही हमारे भीतर अपना रूप देखना चाहता है। हम उसके दर्पण हैं, अमृत रसकी इस अञ्जलिमें विश्वकी पिपासा निहत है। दर्पण न रहनेसे अपना रूप अपनेको गोचर नहीं होता।

यदि यह सृष्टि अकेले उसीकी सृष्टि होती तो क्या हमें उससे किसी प्रकारका आनन्द मिलता? यह सृष्टि हमारी भी सृष्टि है। यदि हम नहीं रहते तो वह यह सृष्टि पाता कहाँसे, दूध बछड़ेकी सृष्टिके लिए है, इसलिए दूध बछड़ेकी सृष्टि है। क्या बिना बछड़ेके दूध हो सकता है? बछड़ा होनेसे ही गाय दूध देती है। दूध देकर गायको सुख होता है और दूध पाकर बछड़ेको। बछड़ेके प्रति गायको जो प्रेम है वही उसके हृदयमें रस होकर भरा रहता है। इसी तरह हमारे प्रेमसे ही विधाताकी सृष्टि है। यदि हमारे प्रति विधाताका कोई प्रेम न रहे तो उसकी सृष्टि भी असम्भव है। विधाताकी शक्ति प्रेमके द्वारा ही व्यक्त होती है। इसीसे यह विश्व प्रेम-रससे पूर्ण है। इसीसे वह हमारी भी सृष्टि

है। विश्व-सौन्दर्यके उपभोगमें हमारा पूरा अधिकार है। क्या सृष्टिमें और क्या भोगमें, ब्रह्मके बिना हम और हमारे बिना ब्रह्म अपूर्ण है। यदि हम न रहे तब उसकी नाम सार्थकता कहाँ से हो। नामके उच्चारणसे ही तो नामकी सार्थकता है।

जैसे नादके बिना श्रुति और श्रुतिके बिना नाद व्यर्थ है, जैसे नेत्रके बिना रूप और रूपके बिना नेत्र व्यर्थ हैं, जैसे रसना के बिना स्वाद और स्वादके बिना रसना व्यर्थ है, ठीक ऐसा ही संबन्ध हमारे और उसके बीच है—

चिरकालसे असीम इस रूप-सीमाके लिए और सीमा असीमके लिए व्याकुल है। यही विश्व व्यापी क्रन्दन है—

साधक विरक्त होता है और प्रेमी भी जो अनित्य है उसे बह जाने देता है। जो नित्य है वह प्रेमके बलसे ही बना रहेगा। जो बह चला उसके पीछे दौड़नेसे लाभ क्या।

ब्रह्मके स्वरसे स्वर बाँध लेने पर सभी सहज हो जाते हैं। यही यथार्थ सेवा है। इसी सेवा-व्रतको ग्रहण करनेके कारण पृथ्वी सस्य-श्यामला रहती है, रवि और शशि प्रकाशमान होते हैं, नहीं, तो क्या धरित्रीने कोई साधन किया है? नील आकाशने क्या संन्यास लिया है। किस साधनाके बलसे रवि और शशि ने ज्योति रूपी अमृत प्राप्त किया है?

सहज साधनका एकमात्र मार्ग यही ब्रह्मके साथ स्वर मिलाना है। क्योंकि ब्रह्म 'महागुणी' है और उसकी यह सृष्टि ही संगीत है। इस विश्वको धूल-मिट्टी अथवा जड़-पुंज नहीं

समझना चाहिये। स्थूल दृष्टिसे तो यही प्रतीत होता है, पर है यह परम शिल्प। उसीके स्वर-सङ्गीतसे आज भी विश्वमें राग और वर्णकी छटा है। वह आज भी घटोंमें रूप, आकार तथा सीमामें—बज रहा है। जो ब्रह्म है वह तो निरंजन है। परन्तु वह ओंकार संगीत ही उसका आकार है। जितने रंग और रूप हैं सब उसीके विस्तार हैं।

संगीतकी यह सृष्टि सुखकर नहीं है। जिसके हृदयका आश्रय ग्रहणकर सौन्दर्य, रस, संगीतकी सृष्टि होती है उसके हृदयमें अनन्त ज्वाला है। जबतक संगीत अपनेको पूर्णरूपसे प्रकाशित नहीं करता तबतक मनमें जो गुप्त गुञ्जन है वही दुःख है।

ब्रह्म स्वयं इसी ज्वालामें अहर्निश मग्न रहता है। उसके मनका भाव असीम है। उसको सीमा और रूपमें प्रकाश करना होगा। यह कम व्यथा नहीं है। ब्रह्म तो असीम और अरूपसे अपने संगीतसे रूप और सीमाके वैचित्र्यमें आता है। साधकको उसी सङ्गीतसे सीमा और रूपसे असीम और अरूपकी ओर यात्रा करनी होगी। वह जिस पथसे आता है उसी पथपर जानेसे तो उसे कभी नहीं देख सकते। उसके साथ भेंट करनेके लिये हमें उल्टे पथसे जाना होगा। यही साधककी ज्वाला है। साधकके पास असीम भाषा है। उसके छन्द और स्वरमें किसी प्रकार असीमके भाव व्यक्त करने होंगे, ससीम रेखा और वर्णोंमें असीमका भाव-चित्र स्फुट करना होगा। यही विधातासे मिलनेका संकेत है। इसलिये ब्रह्मरसपिपासु ब्रह्मकी सृष्टि

करते हुए ब्रह्मकी ओर अग्रसर होते रहते हैं। ब्रह्मकी ज्वाला यह है कि वह असीमसे ससीमकी ओर जाना चाहता है और हमारी ज्वाला यह है कि हम सीमासे असीमको जाना चाहते हैं। साधककी यह ज्वाला उसकी आत्माकी विपुलताका प्रमाण है। साधक समस्त पृथ्वीको ग्रास करना चाहता है। उसकी आत्माकी क्षुधा अपरिमित है। पवन, जल सभीको उसने पानकर लिया है। धरित्री, आकाश, चन्द्र, सूर्य, अग्नि ये पांचो मिलकर उसके एक ग्रासमात्र हैं।

इसी असीम तृष्णाको एक-मात्र असीम भाव ही तृप्त कर सकता है, जिस भावकी न कोई सीमा पा सकता है और न जिसका कोई मूल्य है।

इस असीम भाव-रससे हमारी तृष्णा मिट सकती है। क्षुद्र, ससीम, सुखका रस पान करनेसे यह तृष्णा मिटनेकी नहीं। इसीलिए सन्तोंने प्रार्थना की कि हे प्रभो, प्रकाशपूर्ण आलोकका प्याला भर भरकर दो—

उसे छोड़कर हमारी इस तृष्णाको कौन दूर कर सकता है। क्योंकि हमारी यह तृष्णा उससे किसी प्रकार कम नहीं है। जैसे हमारे राम अपार हैं वैसे ही हमारी भक्ति भी अपार है। इन दोनोंका कोई परिमाण नहीं है। जैसे निर्गुण राम हैं वैसी ही निरंजन हमारी भक्ति है। जैसे परिपूर्ण राम हैं वैसे ही पूर्ण हमारी भक्ति है।

जो आनन्दरसका पान करते हैं उन्हें उसका मूल्य भी देना

पड़ता है। जो आनन्द लाभ किया जाता है उसीके संगीतमें उसका मूल्य भी देना पड़ता है। कवि और कोविद्की ज्वाला यही है।

जो आनन्दरसका पान करते हैं उन्हें भी जबतक उनके हृदयकी गुञ्जन-ध्वनि बाहर नहीं व्यक्त होती, जलन रहती है, किन्तु आशा यही है कि यह ज्वाला और स्तुति ही इस अनित्य संसारका नित्य धन है। जिस आनन्द-धारामें साधक डूब जाते हैं उसकी तो इति हो जाती है, किन्तु साधककी ज्वाला नित्य सङ्गीत रूपमें विद्यमान रहती है।

साधनाकी सबसे बड़ी बात यह है कि जो साधक होता है वह अपनेको अपना नहीं जानता। जो अपने सम्बन्धमें खूब सचेत रहता है, जो यह समझता है कि हम चरम तक पहुंच गये हैं, उसके और कुछ होनेकी आशा नहीं रहती। जो मनुष्य उड़ता रहता है वह यह नहीं जानता कि हम चल रहे हैं। वह यही कहता है कि हमने तो यह रास्ता पकड़ लिया है। परन्तु जो यह कहते हैं कि हम पहुँच गये हैं और तुम सब इसी रास्तेसे चले आओ उन्होंने रास्तेको नहीं देख पाया है। सच बात यह है कि जो यथार्थ गुरु हैं वे कोई नवीन पद्धति या पन्थ नहीं चलाते। वे मनुष्योंके स्वभाव-वैचित्र्य को समझते हैं, इसलिये उनको किसी एक पथ-विशेष पर चलनेके लिये वाध्य नहीं करते। वे सभीके हृदयमें नवीन प्रेम, नवीन आनन्द और नवीन आशा जाग्रत करते हैं। तब सभी अपने २ भावोंसे अग्रसर होते हैं।

यही मुक्ति-दाता गुरुके लक्षण हैं और यही उनकी मुक्ति-दीक्षा है।

प्रकृतिमें अपरूप सौन्दर्यकी जो नित्य सृष्टि हो रही है उसका कारण यह है कि प्रकृति अज्ञ है। मनुष्यके लिए कठिनताकी बात यह है कि वह सचेतन है। वह जब इसी अति-चेतनाके सेतुसे पार होकर परम आनन्द-सृष्टिमें प्रवृत्त हो जाता है तब उसकी सृष्टि अपरूप हो जाती है। प्रकृतिका सौन्दर्य देखकर नेत्र शीतल हो जाते हैं। उसीसे हम समझते हैं कि इस सृष्टिका मूल क्या है। आकाशमें स्वामी बैठे हैं। असीम और अनन्तका हाल न जानकर भी पृथ्वी हरित वस्त्र धारण कर अपरूप सौन्दर्यकी सृष्टि कर रही है, नित्य नूतन शृङ्गार कर रही है। अपार और अनन्त पृथ्वी पुष्पिता और सफला वसुधा हो गई है। गगनके गर्जनसे जल-स्थल पूर्ण हो गये हैं। कालका मुख कालाकर स्वामी हमारे लिए सदैव सु-काल (सुखमय) रहते हैं। हे दीन-दयालो, तुम्हारे घरमें प्रेमका मेघ सघन हो गया है, अब तुम प्रेम-धारा बरसाओ—

६—हिन्दी-साहित्य और मुसलमान कवि

सभी देशोंके इतिहासमें भिन्न-जातियोंके पारस्परिक सङ्घर्षण के उदाहरण मिलते हैं। उनसे यही सिद्ध होता है कि ऐसे ही सङ्घर्षणसे सभ्यताका विकास होता है। भिन्न-भिन्न देशोंमें भिन्न-भिन्न अवस्थाओंके कारण विभिन्न जातियोंके विभिन्न आदर्श होते हैं। जब एक जातिका दूसरी जातिके साथ मिलन होता है तब उसका सामाजिक जीवन जटिल हो जाता है, पर इसी जटिलतासे सभ्यताका विकास होता है। दो जातियोंमें परस्पर भिन्नता रहनी चाहिए, परन्तु जब उन्हें एकही स्थानमें रहना पड़ता है तब विवश होकर उन्हें कोई एक ऐसा सम्बन्ध-सूत्र खोजना पड़ता है जिससे उस भिन्नतामें भी एकता स्थापित हो जाय। यही सत्यका अन्वेषण है, बहुमें एक और व्यष्टि में समष्टि।

भारतवर्षके इतिहासमें महत्त्व-पूर्ण घटना भिन्न-भिन्न जातियोंका पारस्परिक सम्मिलन है। अन्य देशोंकी अपेक्षा भारतमें जाति-प्रेमकी समस्या अधिक कठिन थी। योरपमें जिन जातियोंका सम्मिलन हुआ है उनमें इतनी विषमता नहीं थी। उनमेंसे अधिकांशकी उत्पत्ति एकही शाखासे हुई थी। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें जातिगत विद्वेष और विरोधकी मात्रा कम

नहीं थी, तो भी कदाचित् उनमें वर्णभेद नहीं था। यही कारण है कि इँग्लैंडमें सैक्सन और नार्मन जातियोंमें इतना शीघ्र मिलाप होगया। सच तो यह है कि सभी पाश्चात्य जातियोंमें वर्ण और शारीरिक गठनकी समता है। यही नहीं, किन्तु उनके आदर्शों में भी अधिक भेद नहीं है। इसीलिए उनके पारस्परिक सम्मिलनमें बाधा नहीं आती। परन्तु भारतवर्षकी यह दशा नहीं है। प्राचीन कालमें श्वेताङ्ग आर्यों का कृष्णकाय आदिम निवासियोंसे मिलाप हुआ। फिर द्रविड़-जातिसे उनका सङ्घर्षण हुआ। उस समय द्रविड़-जातिभी सभ्य थी और उनका आचार-व्यवहार आर्यों के आचार व्यवहारसे सर्वथा भिन्न था। यह विषमता दूर करनेके लिए तीन ही उपाय थे। एक तो यह कि इन जातियोंका नाश ही कर दिया जाय। दूसरा यह कि उन्हें वशीभूतकर उनपर अपनी सभ्यताका प्रभाव डाला जाय और तीसरा यह कि एक ऐसे वृहत् सत्यका आविष्कार किया जाय जहाँ किसी भी प्रकारकी भिन्नता नहीं रह सकती। भारतीय आर्यों ने इस तीसरे उपायका अवलम्बन किया। भारतवर्षके इतिहासमें जिन महापुरुषोंका नाम अग्रगण्य है उन्होंने यही कार्य किया है। भगवान् बुद्धने मैत्रीकी शिक्षा देकर भारतके राष्ट्रीय जीवनमें एकताका प्रचार किया। जब भारतपर मुसल-मानोंका आक्रमण हुआ तब देशमें एक नये आन्दोलनका जन्म हुआ। उस आंदोलनका उद्देश्य था जातीय और धार्मिक विरोधको भूलकर नारायणके प्रेममें सभी नरोंको भ्रातृरूपसे

ग्रहण करना। हिंदी-साहित्यपर इस आंदोलनका जो प्रभाव पड़ा उसकी चरचा यहां की जाती है।

भारतपर मुसलमानोंका आधिपत्य स्थापित नहीं हो गया। हिंदू-जातिने—विशेषकर राजपूतों और मरहठोंने--बड़ी दृढ़तासे उनका आक्रमण रोका था। मुसलमानोंका पहला आक्रमण सन् ६६४ इस्वीमें हुआ। उस समय मुसलमान मुलतान तक ही आकर लौट गये। और उनका आक्रमण सन् ७११ में फिर हुआ। तब उन्होंने सिंधु देशपर अधिकार कर लिया था। परंतु कुछ समयके बाद राजपूतोंने उनको वहांसे हटा दिया। इसके बाद महमूद गजनवीका आक्रमण हुआ। उस समय भी मुसलमानोंका प्रभुत्व यहां स्थापित नहीं हुआ। सन् ११९३ से मुसलमानोंका शासन-युग प्रारम्भ हुआ। उत्तर भारतमें उनका साम्राज्य स्थापित हो जानेपर भी दक्षिणमें हिंदू साम्राज्य बना रहा। विजयनगरका पतन होनेपर कुछ समयके लिये समग्र भारतमें हिंदू-साम्राज्यका लोप हो गया। परन्तु सत्रहवीं सदीमें मरहठे प्रबल हुए और अंतमें उन्होंने फिर हिंदूसाम्राज्यकी स्थापना की। इसी समय अंग्रेजोंका प्रभुत्व बढ़ा और कुछ ही समयमें हिंदू और मुसलमान दोनोंको अंग्रेजोंका आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा।

यद्यपि भारतवर्षमें मुसलमानोंका साम्राज्य सन् ११९३ से प्रारम्भ होता है तथापि कितने ही मुसलमान साधक और फ़क़ीर इन आक्रमणकारियोंके पहले ही यहां आ चुके थे। आठवीं सदी-

में जब मुसलमानोंने भारतका एक भाग विजय कर लिया तब तो हिंदुओं और मुसलमानोंमें घनिष्ठता हो गई। उस समय मुसलमानोंका अभ्युदय बढ़ रहा था। बग़दाद विद्याका केन्द्र हो गया था। कितने ही भारतीय विद्वान् ख़लीफ़ाके दरबारतक जा पहुँचे। वहां उन लोगोंकी बदौलत संस्कृतके कितने ही ग्रन्थरत्नों-का अनुवाद अरबी भाषामें हुआ। भारतवर्षमें मुसलमानोंने केवल अपनी प्रभुता ही स्थापित नहीं की, किन्तु अपने धर्मका भी प्रचार किया। तभी हिंदू और मुसलमानका विरोध आरम्भ हुआ। इस विरोधको दूर करनेका सबसे अधिक प्रयत्न किया कबीरने। कबीरने देखा कि भारतवर्षमें हिंदू और मुसलमानका विरोध बिलकुल अस्वाभाविक है।

कोई हिंदू कोई तुरुक कहावै एक जमींपर रहिये।
वही महादेव वही मुहम्मद ब्रह्मा आदम कहिये॥
वेद किताब पढ़ैं वे कुतबा वे मौलाना वे पांडे।
विगत विगतकै नाम धरायो यक माटीके भांडे॥

कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनोंका हाथ पकड़कर एकही पथपर ले जाना चाहते थे। परन्तु दोनों इसका विरोध करते थे। कबीरको उनकी इस मूढ़ता—इस धर्मान्धता—पर आश्चर्य होता था। उन्होंने देखा कि इस विरोधाग्निमें पड़कर दोनों नष्ट हो जायँगे।

साधो देखो जग बौराना।
सांच कहो तो मारन धावै झूठे जग पतियाना।

हिन्दू कहत है राम हमारा, मुसलमान रहिमाना॥
आपसमें दोउ लरि लरि मूये मरम न काहू जाना।
हिन्दू दया मेहरकी तुरकन, दोनों घट सों त्यागी॥
वैं हलाल वैं झटका मारैं, आग दोऊ घर लागी।
या विधि हसत चलत है हमको आप कहाये स्याना॥
कहे कवीर सुनो भाई साधो, इनमें कौन दिवाना॥

स्वदेशकी कल्याण-कामनासे प्रेरित हो कवीर उस पथको खोज निकालना चाहते थे जिसपर हिन्दू और मुसलमान दोनों चलकर अपनी आत्मोन्नति कर सकें। परन्तु हिन्दू एक ओर जा रहे थे तो मुसलमान ठीक उसके विपरीत जा रहे थे। कवीरने उनको चेतावनी दी—

अरे इन दुहू राह न पाई।
हिन्दुकी हिन्दूवाई देखी तुरकनकी तुरकाई।
कहैं कवीर सुनो भाई साधो कौन राह ह्वै जाई॥

इसीलिए कवीरने हिन्दूकी हिन्दुवाई और तुर्ककी तुरकाई दोनोंको छोड़ दिया। उन्होंने केवल मनुष्यत्वको ग्रहण किया—

हिन्दू कहूं तो मैं नहीं मुसलमान भी नहिं।

उन्होंने दोनोंको एकही दृष्टिसे देखा—

सम दृष्टि सतगुरु किया मेटा भरम विकार।
जहँ देखौं तहँ एकही साहेबका दीदार॥
सम दृष्टी तब जानिये सीतल समता होय।
सब जीवनकी आत्मा लखें एक सी सोय॥

कबीरका प्रयास व्यर्थ नहीं हुआ। हिन्दू और मुसलमान सम्मिलनकी ओर अग्रसर हुए। भाषाके क्षेत्रमें इनका सम्मिलन बहुत पहले हो चुका था। अमीर खुसरोंने इस एकताकी नींव को दृढ़ किया। हिन्दीमें काग़ज़-पत्र, शादी-ब्याह, खत-पत्र आदि शब्द उसी सम्मिलनके सूचक हैं। इसके बाद जायसीने मुसलमानोंको हिन्दी-साहित्यमें सौन्दर्यका दर्शन कराया।

तुरकी अरबी हिन्दुवी भाषा जेती आहि।
जामें मारग प्रेमका सबै सराहैं ताहि॥

मलिक मुहम्मद जायसी केवल कवि नहीं थे, साधक भी थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों उनकी पूजा करते थे। कितने ही लोग उनके शिष्य थे। अतएव यह कहना नहीं होगा कि हिन्दी भाषामें रचनाकर उन्होंने मुसलमानोंको हिन्दू-जातिसे प्रेम करनेकी शिक्षा दी। जायसीके धार्मिक विचारोंका आभास उनके अखरावटसे मिलता है। अपने धर्मपर अविचल रहकर भी कोई दूसरे धर्मको श्रद्धाकी दृष्टिसे देख सकता है। यही नहीं, किन्तु वह उसमें सत्यका यथार्थ और अभिन्न रूप देख सकता है। यह जायसीकी कृतिसे प्रकट होता है। हिंदू भी मुसलमानोंकी तरह ईश्वरकी संतान हैं। यही नहीं, उनका भी धर्म ईश्वर प्रदत्त है। अतएव वे हमारी घृणाके पात्र नहीं है।

तिन्ह संतति उपराजा भांति हि भांति कुलीन।
हिंदू तुरुक दुनउ भये अपने अपने दीन॥

जायसीने जो शिक्षायें दी हैं उनमें ऐसी कोई शिक्षा नहीं है

जिसे कोई हिन्दू-स्वीकार न कर सके। ईश्वरकी सर्वव्यापकतापर उन्होंने कहा है—

जस तन तस यह धरती जस मन तइस अकास।
परमहंस तेहि मानस जइस फूल मँह बास॥

जो उसका दर्शन करना चाहते हैं उन्हें अपने हृदयको सदैव स्वच्छ रखना चाहिये—

तन दरपन कहँ साज दरसन देखा जो चहइ।
मन सों लीजइ मांज, महमद निरमल होम किया।

उन्होंने एकत्ववादकी सदैव शिक्षा दी है—

एक कहत दुइ होय दुइसे राज न चलि सकइ।
बीच तें आपहु खोय महमद एकाग्र होइ रहइ॥

भोग्य और भोक्तामें भी उन्होंने कोई भिन्नता नही देखी है—

सबइ जगत दरपन कइ लेखा।
आपुहि दरपन आपहु देखा॥
आपुहि वन अउ आप पखेरू।
आपुहि सबजा आप अहेरू॥
आपुहि पुहुप फूल-गति फूले।
आपुहि भंवर बास-रस भूले॥
आपुहि फल आपुहि रखवारा।
आपुहि सोरस चाखन हारा॥
आपुहि घटघट मंह मुख चाहइ।
आपुहि आपन रूप सराहइ॥

आपु हि कागद आपु मसि आपुहि लिखनहार।
आपुहि लिखनी अखर आपुहि पँडित अपार॥

जिस आन्दोलनके प्रवर्त्तक कबीर थे उसकी पुष्टि जायसीके समान मुसलमान साधकों और फ़क़ीरोंने की। भारतमें राजकीय सत्ता स्थापित करनेके लिये हिंदू और मुसलमान दोनों प्रयत्न करते रहे। परन्तु देशमें दोनोंका स्थान निर्दिष्ट हो चुका था। भारतसे मुसलमानोंका उतना ही सम्बन्ध हो गया जितना हिन्दुओंका। प्रतिद्वन्द्वी होनेपर भी इन दोनोंके धर्मों का प्रवेश भारतीय सभ्यतामें हो गया। हिंदी और फ़ारसीसे उर्दूकी सृष्टि हुई। उसी प्रकार हिन्दू और मुसलमानकी कलाने मध्य युगमें एक नवीन भारतीय कलाकी सृष्टि की। देशमें शान्ति भी स्थापित हुई। कृषकोंका कार्य निर्विघ्न हो गया। व्यवसाय और वाणिज्य-की वृद्धि होने लगी। देशमें नवीन भावका यथेष्ट प्रचार हो गया। अकबरके राजत्व-कालमें इसका पूरा प्रभाव प्रकट हुआ। उसके शासनकालमें जिस साहित्य और कलाकी सृष्टि हुई उसमें हिन्दू और मुसलमानका व्यवधान नहीं था। अकबरके महामन्त्री अबुलफ़ज़लने एक हिन्दू-मन्दिरके लिए जो लेख उत्कीर्ण कराया था उसका भावार्थ यह है—हे ईश्वर, सभी देव-मन्दिरोंमें मनुष्य तुम्हींको खोजते हैं, सभी भाषाओंमें मनुष्य तुम्हींको पुकारते हैं। विश्व-ब्रह्मवाद तुम्हीं हो और मुसलमान-धर्म भी तुम्हीं हो। सभी धर्म एक ही बात कहते हैं कि तुम एक हो, तुम अद्वितीय हो। मुसलमान मस्जिदोंमें तुम्हारी प्रार्थना करते हैं और ईसाई

गिर्जा घरोंमें तुम्हारे लिए घण्टा बजाते हैं। एक दिन मैं मस्जिद जाता हूँ और एक दिन गिर्जा। पर मन्दिर मन्दिरमें मैं तुम्हींको खोजता हूं। तुम्हारे शिष्योंके लिए सत्य न तो प्राचीन है और न नवीन। अबुलफ़जलका यह उद्गार मध्ययुगका नव सन्देश था। हिन्दीमें सूरदास और तुलसीदासने अपने युगको इसी भावनासे प्रेरित हो मनुष्य-जीवनमें श्रेष्ठ आदर्श दिखलाया। इसी भावको ग्रहण कर मुसलमानोंमें रहीमने कविता लिखी। निम्न-लिखित पद्योंसे प्रकट हो जाता है कि रहीमने हिन्दूभावको कितना अपना लिया था।

अनुचित बचन न मानिए जदपि गुराइस गाढ़ि।
है रहीम रघुनाथ ते सुजस भरतको बाढ़ि॥
कमला थिर न रहीम कहि, यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातनकी बधू, क्यों न चंचला होय॥
गहि सरनागति राम की भवसागर की नाव।
रहिमन जगत उधार कर और न कछू उपाव॥
जो रहीम करिबो हुतो ब्रज को इहै हवाल।
तौ काहे कर पर धरयो गोबर्धन गोपाल॥

मुग़लोंके शासन-कालमें हिन्दी-साहित्यकी जो श्रीवृद्धि हुई उसका कारण यही है कि उस समय मुसलमान भारतको स्वदेश समझने लगे थे। न तो हिन्दुओंने तत्कालीन राज-भाषाकी उपेक्षाकी और न मुसलमानोंने हिन्दू-साहित्यकी। उस समय वैष्णव-सम्प्रदायके आचार्योंने धार्मिक विरोधको भी हटानेकी

चेष्टा की। कितने ही मुसलमान साधक श्रीकृष्णके उपासक हो गये। इनमें रसखानकी भक्तिने हिन्दीमें रसकी धारा बहा दी है। उनका निम्नलिखित पद्य बड़ा प्रसिद्ध है।

मानुस हो तो वही रसखान बसौ मिलि गोकुल गोप गुवारन।
जो पशु होउँ कहा बसु मेरो चरौं नित नन्दकी धेनु मझारन॥
पाहन हों तो वही गिरि को जु कियो व्रज छत्र पुरन्दर कारन।
जो खग होउँ बसेरो करौं वही कालिन्दी कूल कदम्बकी डारन॥

मुसलमानोंके लिए यह प्रेम कम साहसका काम नहीं था। ताजका यह कथन सर्वथा उचित था—

सुनौ दिल जानी मेरे दिलकी कहानी तुम।
इस्म ही विकानी बदनामी भी सहूंगी मैं॥
देव-पूजा ठानी मैं नमाजहू भुलानी तजे।
कलमा कुरान सारे गुनन गहूँगी मैं॥
श्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्लेदार
तेरे नेह दाग मैं निदाघ ह्वै दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताणी सूरत पै
तांण नाल प्यारे हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं।

इसी प्रेमसे प्रेरित हो कितने ही मुसलमान कवियोंने हिन्दी साहित्यको अपनी रचनाओंसे अलङ्कृत किया है।

राजनीतिके क्षेत्रमें हिन्दू और मुसलमान जातिका विरोध नहीं दूर हुआ। समाजके क्षेत्रमें भी दोनोंका संघर्षण बना रहा। तो भी साहित्यके क्षेत्रमें दोनोंने सत्यको ग्रहण करनेमें

सङ्कोच नहीं किया। इसी चिरन्तन सत्यके आधारपर—इसी ऐक्यमूलक आध्यात्मिक आदर्शकी भित्तिपर—भारतने अपनी जातीयताकी स्थापना की है। इस जातीयतामें सभी जातियाँ अपने अस्तित्वको स्थिर रख सकती हैं। इसमें सम्मिलित होनेके लिये हिन्दुओंने अपना हिन्दुत्व नहीं छोड़ा और न मुसलमानोंने अपने धार्मिक और सामाजिक संस्कारोंका परित्याग किया। परन्तु इन दोनोंका मिलन अनन्त सत्यके मन्दिरमें हुआ, जहाँ वाह्य आचार-व्यवहार और कृत्रिम जाति-भेदके वन्धनसे मनुष्य-जातिकी एकता भिन्न नहीं होती। यह एकता काल्पनिक नहीं है। यह हिंदू और मुसलमानके जीवनमें अभीतक काम कर रही है। सत्यकी सीमा संकुचित कर देनेसे ही इनमें परस्पर विरोध होता है। ईश्वरमें ही सभी विरोधोंका मिलन होता है। इसी-लिए उसीको अपना लक्ष्य मानकर भारतने अपनी जातीयताकी सृष्टि की है। यहां एक ओर समाजमें आचार-विचारकी रचना होती आई है और दूसरी ओर मनुष्यकी एकता को लोग स्वीकार करते आये हैं। एक ओर भिन्न-भिन्न वर्णों में एक ही पंक्तिमें बैठकर खाने-पीने तकका निषेध किया गया है और दूसरी ओर आत्मवत् सर्वभूतेषुकी शिक्षा दी गई है। आधुनिक युगमें जाति-भेदकी जो समस्या उपस्थित हो गई है उसके सम्बन्धमें रवींद्र बाबूने बिलकुल ठीक लिखा है कि आजकल जाति-विद्वेष खूब बढ़ गया है। सभ्य जाति अपनी शक्तिके मदसे उन्मत्त हो निर्बल जातियोंपर अत्याचार करनेमें संकोच नहीं करती। अभी

मनुष्यत्वका विचार उनके लिए उपहासास्पद है। परंतु जब जातीय स्वातन्त्र्य, परजाति-विद्वेष और स्वार्थसिद्धिका वीभत्स रूप दृष्टि-गोचर होने लगेगा तब मनुष्य यह समझेगा कि मनुष्यकी यथार्थ मुक्ति किसमें है। नरमें नारायणको उपलब्ध करनेमें ही उसकी मुक्ति है, इसीमें उसका कल्याण है। इसके लिये अधिक तर्क करनेकी आवश्यकता नहीं।

बिन्दु मों सिन्धु समान, को अचरज कासों कहै।
हेरनहार हेरान, रहिमन अपने आपतें ॥

———

७—हिन्दी-साहित्यका मध्यकाल

हिन्दीमें कबीर और दादूके समान कितने ही सन्तोंने कवितायें लिखी हैं। उनकी रचनाओंमें कलाका सौष्ठव न होने पर भी सत्यकी ज्योति है। कवितामें कला और शक्तिका विलक्षण सम्मिश्रण तुलसीदास और सूरदासकी रचनाओंमें हुआ है। ये दोनों हिन्दीके सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इसी समय हिंदीके प्रायः सभी कवियोंने राम और कृष्णका यशोगान करनेके लिये पद लिखे हैं। उनकी कवितामें प्रेम और भक्ति हीका वर्णन है। परन्तु यहां हमें एक बातका स्मरण रखना चाहिये। वह यह कि इन भक्त कवियोंकी गणना शृङ्गार-रसके आचार्योंमें नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि मध्ययुगमें हिन्दी साहित्यका उद्गम भक्तिवादमें हुआ। थोड़े ही समयमें उसका आधिपत्य समग्र भारतवर्षपर हो गया। संवत् १४४४ से १६८० तक उसीसे हिंदी-साहित्यकी अच्छी वृद्धि हुई। जिन कवियोंका उसे गर्व है उनका आविर्भाव इसी कालमें हुआ। कबीर, विद्यापति, सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई आदि ऐसे कवि हैं जिनकी रचनाओंका आदर सभी समय होता रहेगा। राधा-कृष्णके प्रेम वर्णनसे गद्गद होकर इन्होंने पवित्र शृङ्गार-रसकी अवतारणा की है। परंतु इन्होंने अपनी कल्पनाको पवित्र, संयत और निर्मल रखा

है। इनके बाद भी हिंदी-साहित्यकी बराबर उन्नति होती गई। परन्तु कविताका लक्ष्य परिवर्तित हो गया। वह धर्मकी ओर न जाकर शृंगार-रसकी ओर जाने लगा। तब हिन्दीमें शुष्क शृङ्गार-रसके काव्योंकी वृद्धि होने लगी। शृङ्गार-रसके आचार्य थे केशवदास। उनकी रसिक-प्रिया रसिकोंका और कवि-प्रिया कवियोंका कंठहार हो गई। सेनापति, मतिराम, बिहारी, देव, दास, पद्माकर आदि जितने कवि हुए सभी शृङ्गार-रसके आचार्य थे।

इस भावोन्मादको भक्तिवादने उत्तेजित अवश्य किया था। उसका कारण है। मनुष्य-मात्रका यह स्वभाव है कि जब उसकी क्रिया-शक्ति निर्बल हो जाती है तब उसकी भाव-शक्ति खूब प्रबल रहती है। बाल्य-कालमें क्रिया-शक्ति क्षीण रहती है। इसीलिये उस समय बालकोंके हृदयमें भिन्न-भिन्न कल्पनाओं और भावोंकी तरंगे उठा करती हैं। जब वृद्धावस्था आती है तब क्रिया-शक्ति फिर निर्बल हो जाती है। यही कारण है कि वृद्ध भावों-के इतने वशीभूत होते हैं। मुसलमानोंके राजत्वकालमें हिन्दू-राज-नैतिक स्वत्वोंसे हीन थे। उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी थी, पर पराधीनताने उनको उत्साह-शून्य और शक्ति-हीन बना दिया था। मुसलमानोंकी प्रभुता उत्तर भारत ही पर अक्षुण्ण थी। जहां उनकी प्रभुता अच्छी तरह नहीं स्थापित हुई थी वहाँ हिंदू बिलकुल ही क्षीणपराक्रम नहीं हो गये थे। यही कारण है कि रामदासने भक्तिमें निष्काम कर्मका उपदेश देकर दक्षिण

भारतमें जो शक्ति उत्पन्न कर दी उससे उत्तरभारतके हिंन्दू सर्वथा वंचित रहे। दासत्वकी शृंखलामें वद्ध होकर उत्तर-भारतके श्रीमान् सभी बातोंमें अपने सम्राटोंका अनुकरण करने लगे।

महाप्रभु वल्लभाचार्यका जन्म संवत् १५३५ में हुआ था। उनके उपदेशोंने हिंदी-साहित्यमें अमृतवर्षा की और वैष्णव-साहित्यका उद्भव हुआ। वैष्णव-साहित्य और धर्मका विशेषत्व यह है कि वह मनुष्योंमें भगवान्‌के स्वरूपको उपलब्ध करना चाहता है। ईश्वरके विराट् और अचिन्त्य स्वरूपसे वह दूर रहता है। प्रेममें भय नहीं रहता। इसलिए वैष्णव कवियोंने पिता, माता, स्वामी, सखा आदि पारिवारिक स्नेहमें ही लीला-मयका लीला-विकास देखा। जितने वैष्णव-कवि हुए वे सभी पार्थिव प्रलोभनोंसे दूर रहकर भगवद्भक्तिमें निरत रहते थे। सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई आदि कवियोंकी गणना वैष्णव-कवियोंमें की जाती है।

वैष्णव-साहित्य खूब लोक-प्रिय हुआ क्योंकि वह सरस और सरल था। परन्तु हिन्दीमें वही एक साहित्य नहीं था। बौद्ध-धर्मके पतनके बाद भारतमें जो नवीन संस्कृत-साहित्य प्रचलित हुआ था उसके आधार पर भी हिन्दीमें एक दूसरा साहित्य बन रहा था। उसकी ओर भी हम एक दृष्टि डालना चाहते हैं।

मुसलमानोंके आनेके पहले भी भारतवर्षमें धार्मिक विद्वेष

था। बौद्ध और जैन-धर्मों ने हिन्दू-धर्मपर कुठाराघात किये। परन्तु अन्तमें हिन्दू-धर्मने बौद्ध-धर्मका उच्छेद कर डाला और जैन-धर्मकी प्रभुता लुप्त कर दी। बौद्धधर्मके प्राबल्य- कालमें प्राकृत साहित्यका प्रचार बढ़ा था, पर हिन्दू धर्मके अभ्युदयसे नवीन संस्कृत साहित्यका आविर्भाव हुआ। हिन्दू-धर्मका यह संस्कृत-साहित्य खण्डन और मण्डनात्मक ग्रन्थोंसे ही पूर्ण था। दर्शन, धर्म, व्याकरण और काव्यकी शास्त्रीय विवेचनामें ही तत्कालीन हिन्दू-विद्वानोंने खूब परिश्रम किया। भगवान् शङ्कराचार्यके समयसे कबीरकी उत्पत्ति तक जितने ग्रन्थ बने हैं, प्रायः सभी आलोचनात्मक हैं। उनमें तात्त्विक संश्लेषण और विश्लेषण ही हैं। श्रीहर्ष इसी कालके कवि हैं। उनका पाण्डित्य इतना प्रखर है कि सर्वसाधारण उनकी ओर ताकनेका साहस नहीं कर सकते। इस प्रकार यह साहित्य कुछ ही लोगोंमें सीमाबद्ध हो गया। इसी समय संस्कृतमें शृङ्गार-रसका तूफ़ान आ गया। कितने ही काव्य, नाटक, प्रहसन आदि रचे गये, उनमेंसे कुछ तो अश्लीलताकी सीमातक पहुँच गये। पर इस साहित्यका प्रचार सर्वसाधारणमें नहीं था। काव्य-कलाके निष्णात कवि और शास्त्रोंके मर्मज्ञ पण्डित सर्वसाधारणसे पृथक् होकर राज-सभाके आभूषण हो गये थे। राज-चिन्होंमें उनकी गणना होने लगी थी। मुग़लकालमें जब विद्या-रसिक मुग़ल-बादशाहोंने विद्वानोंको राज-सभामें स्थान दिया तब छोटे छोटे अधिपति भी कवियोंका सम्मान

करने लगे। इन कवियोंने नवीन संस्कृत-साहित्यके अनुकरण-पर काव्य रचना की। कालिदासके बाद संस्कृत कवियोंमें शब्दोंका आडम्बर और अलङ्कारोंका प्रचार बढ़ने लगा था। साहित्य-कलाके मर्मज्ञोंने काव्यके लिये सूक्ष्मातिसूक्ष्म नियम बनाये थे। इन राज-कवियोंने उन्हीं नियमोंका अनुसरण किया। प्रायः सभीने अलङ्कार-शास्त्रपर एकाध ग्रन्थ लिखा है। इन कवियोंने जो साहित्य-निर्माण किया है वह वैष्णव-साहित्यसे सर्वथा पृथक् है। पण्डितराज जगन्नाथ जिस कोटिके कवि हैं उसीमें केशव, बिहारी, मतिराम और पद्माकरकी गणना होनी चाहिए। सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई आदि जितने स्त्री-पुरुष भक्तोंमें आदरणीय माने गये हैं उन सबने सांसारिक वैभवका परित्यागकर ऐहिक वासनाओंके दमन करनेकी चेष्टा की है। यही उनका प्रधान लक्ष्य रहा है, परन्तु क्या यही बात बिहारी, मतिराम आदि शृङ्गार-रसके आचार्यों के विषयमें भी कही जा सकती है? क्या उन्होंने भक्तिके आवेशमें आकर सांसारिक वैभवकी कामना छोड़ी है? शृङ्गार-रसके वर्णनमें तो उन्होंने अपनी कृष्ण-भक्तिकी पराकाष्ठा दिखलाई, परन्तु क्या उन्होंने अपने जीवनमें भी कभी भक्तिभाव प्रदर्शित किया है? उनके नख-शिख-वर्णनमें अध्यात्मवाद अथवा भक्तिवाद देखना अन्याय है।

कविवर बिहारीलाल अथवा मतिराम राजसभाके रत्न थे। उनकी प्रतिभा उसीमें अवरुद्ध थी। उन्हें कोई विश्व-कवि नहीं

कहेगा। उनकी कृति विद्वानोंकी शोभा हो सकती है, पर वह सर्वसाधारणकी सम्पत्ति नहीं है। वह विलासकी सामग्री है, पर पूजाका पात्र नहीं है। उससे मस्तिष्कमें उत्तेजना पैदा हो सकती है, पर हृदयमें शान्ति नहीं हो सकती। उनके भावोंमें तल्लीन होकर रसिक आत्मविस्मृत हो सकते हैं, पर उनमें जाग्रति नहीं आ सकती। अस्तु।

इतिहासज्ञोंका कथन है कि मुग़लोंका शासनकाल हिन्दी-साहित्यके लिये स्वर्ण युग है! इसमें संदेह नहीं कि मुगल बादशाहोंने हिन्दी-साहित्यसे जो अनुराग प्रदर्शित किया उससे हिन्दी-साहित्यकी अच्छी वृद्धि हुई। कहनेकी ज़रूरत नहीं कि मुग़ल-सम्राटोंका अनुकरण कर अन्य श्रीमानोंने भी हिन्दीके कवियोंका अच्छा सत्कार किया। इस समय हिन्दीमें जितने बड़े बड़े कवि हुए प्रायः सभी किसी न किसी राजाके आश्रित थे। श्रीमानोंकी संरक्षकतामें हिन्दी-साहित्यकी वृद्धि तो हुई, परन्तु कवि जनताके प्रतिनिधि नहीं रह सके। राजसभाओंमें जो कवि सम्मानित हुए उन्होंने जनताके हृद्गत भावोंको व्यक्त करनेकी चेष्टा नहीं की। हिन्दू-समाजमें जीवनकी गति किधर है और उसको किस दिशाकी ओर परिवर्तित कर देनेसे समाज-का कल्याण होगा, यह कवि-प्रिया अथवा रसिक-प्रियाके समान ग्रन्थोंका उद्देश्य नहीं था। ऐसी रचनायें किसी न किसी महाराज की सेवाके उपलक्ष्यमें लिखी गई थीं, अतएव उनमें कदाचित उन्हींके मनोविनोदकी ओर कवियोंका ध्यान था। अपना कला-

नैपुण्य प्रदर्शित करनेके लिए इन्होंने साहित्य-शास्त्रका तो मन्थन कर डाला, पर जीवनका रहस्य ढूँढ़नेके लिये मनुष्य-समाजकी पर्यालोचना नहीं की।

मुग़लोंका प्रभुत्व क्षीण होनेपर लोग एक बार फिर भारत-वर्षमें हिन्दू-साम्राज्यका स्वप्न देखने लगे। उत्तरमें सिक्खोंने और दक्षिणमें मरहठोंने स्वाधीनताके लिये युद्ध किया। कहा जाता है कि मुग़लोंके पतनका सबसे बड़ा कारण यह है कि औरंगजेबने हिंदू-धर्मके विनाशके लिये प्रयास किया। इसमें सन्देह नहीं कि हिंदुओंपर धार्मिक अत्याचार हुए, पर आश्चर्य की बात यह है कि जिस प्रान्तपर सबसे अधिक अत्याचार हुआ उसने मुगलोंके विरुद्ध वैसी उत्तेजना प्रदर्शित नहीं कि जैसी सिक्खों अथवा मरहठोंने की। कुछ विद्वान् महाकवि भूषणको जातीय कवि समझते हैं। पर भूषणकी ओजस्विनी कविता उसी भाषामें लिखी गई थी जिसके अधिकांश बोलनेवाले अत्या-चार सहकर भी अकर्मण्य बने रहे। मरहठोंके प्रति उनकी सहानुभूति अवश्य थी, पर वह सहानुभूति क्रिया-हीन थी। चतुर मरहठोंने अपने राज्य-विस्तारके लिये उस सहानुभूतिसे पूरा लाभ उठाया। उन्होंने हिंदी-भाषा-भाषी प्रान्तोंपर अधि-कार कर लिया। तो भी उन प्रांतोंके अधिवासियोंमें जाग्रतिका कोई भी लक्षण नहीं दिखाई दिया। मुग़लोंका प्रभुत्व नष्ट हुआ और कुछ कालके लिये हिन्दू महाराष्ट्रका आधिपत्य स्थापित भी हुआ तो भी देशकी अवस्थामें परिवर्तन नहीं हुआ। उसी प्रकार

पंजाबमें हिंदू-सिक्खोंका अधिकार हो जानेपर भी वहां हिन्दू-साहित्यकी कुछ भी श्री-वृद्धि नहीं हुई। हम जानना चाहते हैं कि लोगोंमें यह शून्यता कैसे हुई? सच बात यह है कि मरहठे, सिक्ख अथवा राजपूत मुगलोंके विरुद्ध अवश्य खड़े हुए, परन्तु देश उनके साथ नहीं था। मुग़लोंके विरुद्ध जो युद्ध हुआ वह स्वाधीनताके लिए जनताका युद्ध नहीं था। जनता सर्वथा उदासीन थी। भूषणने औरंगजेबके विरुद्ध अपने जो भाव प्रकट किये हैं वे जनताके भाव नहीं हैं। भूषणने अपने जिन आश्रयदाताओंका यशोगान किया है उनपर देशकी अचल श्रद्धा नहीं थी। भूषण भले ही इस संशयमें पड़े रहे कि वे साहु-की प्रशंसा करें या छत्रसालकी, पर देश इन दोनोंके प्रति उदा-सीन था। यदि यह बात न होती, यदि सचमुच समग्र भारत-वर्षमें स्वाधीनताके भाव जाग्रत हुए होते, तो देशमें वह शक्ति उत्पन्न हुई होती जो अदम्य होती। उस शक्तिके प्रभावसे तत्का-लीन साहित्यका स्वरूप ही कुछ दूसरा हो जाता। उन भावोंकी पुष्टिके लिये सैकड़ों कवि उत्पन्न हुए होते। पर हम देखते हैं कि हिंदीमें भूषणके समान दो ही एक कवि उधर आकृष्ट हुए और अन्य कवि शृंगार-रसमें ही निमग्न रहे।

यह नहीं कहा जा सकता कि हिंदी-भाषा-भाषी प्रांतोंके अधि-वासियोंमें शौर्य्यका अभाव है। सेनाओंमें इन लोगोंकी संख्या उपेक्षणीय नहीं है। समरभूमिमें ये लोग अच्छा पराक्रम दिखलाते थे। इन्हीं लोगोंकी सहायतासे ब्रिटिश-साम्राज्यतक

स्थापित हुआ। फिर भी इस जातिने स्वाधीनता प्राप्त करनेके लिये कभी प्रबल चेष्टा नहीं की। इसका क्या कारण है? हमारी समझमें तो इसका कारण यही है कि इनके सामने स्वाधीनताके आदर्श कभी उपस्थित नहीं किये गये। तुलसीदास और सूरदासने उन्हें धर्म श्रेष्ठ आदर्श दिखलाये पर हिन्दीमें स्वाधीनताका आदर्श दिखलानेके लिये कोई भी तुलसीदास अथवा सूरदास उत्पन्न नहीं हुआ। राजसभाकी शोभा बढ़ाने वाले और राजाओंसे अपरिमित पुरस्कार पानेवाले कवि जनताके कवि नहीं हो सकते। इन कवियोंने धन और कीर्तिकी आशासे जिस साहित्यकी सृष्टिकी है वह जातीयताके भावोंसे सर्वथाशून्य है। इनकी रचनाओंमें हम जिस वैभवका दर्शन करते हैं वह उनके आश्रय दाताओंका वैभव नहीं।

भारतवर्षके इतिहासमें सबसे विलक्षण बात यह हुई है कि जब देशमें जातीयताके प्रचारके लिये किसीने मत-भेदोंको दूर करनेकी चेष्टाकी तब वे तो दूर हुए नहीं, उलटा उनकी संख्यामें और एक वृद्धि हो गई। गुरु नानकने मनुष्य-मात्रके कल्याणके लिये ज्ञानकी जो धारा प्रवाहित की थी वह अन्तमें सिक्खोंके सम्प्रदायमें ही अवरुद्ध हो गई। कबीर, दादू, चैतन्य आदि जितने धर्म गुरुओंने प्रेमके आधार पर जातीयताकी सृष्टि करना चाहा उतने ही सम्प्रदायोंकी वृद्धि हुई। तुकाराम, नाम-देव आदि दक्षिणके धर्म-प्रचारकोंने जिस महाराष्ट्र-जातिको धर्मके बन्धनसे दृढ़कर प्रबल बना दिया था वही जाति राज-

नैतिक स्पर्धासे स्वयं अपने पतनका कारण हुई। यही कारण है कि मध्ययुगके आरम्भमें भारतीय साहित्यमें जिन धार्मिक भावोंने एक नवीन शक्ति उत्पन्न कर दी थी वे बिलकुल शिथिल हो गये। इधर भाव-स्रोत अवरुद्ध हुआ उधर हिन्दीके सभा-कवियोंने कला-सौष्ठवके प्रदर्शनमें अपनी शक्ति लगा दी। शायद ही किसी देशके साहित्यमें कवियोंने कलाके द्वारा अपने व्यक्तित्व को इतना छिपाया हो जितना हिन्दीके परवर्ती कवियोंने। कबीर, सूरदास, तुलसीदासके समान कवियोंकी रचनाओंमें उनके हृदयके भाव फूट पड़ते हैं। पर बिहारी-सतसईके समान काव्यों में हम कविका यथार्थ दर्शन करते ही नहीं। उन्हें हम जब देखते हैं तब एक कल्पित राज्यमें ही बिहार करते पाते हैं। अपनी कल्पनाके सौन्दर्यमें वे ऐसे डूब गये हैं कि दूसरी ओर उनकी दृष्टि जाती ही नहीं। वर्षा-ऋतुमें मेघागम देखकर वे किसी कल्पित वियोगिनीके विरह-दुःखसे विकल हो गये हैं, पर देशके हाहाकारसे उनका चित्त विकृत नहीं हुआ। जब मुग़ल-साम्राज्य स्मशान-भूमिमें चितानल जला रहा था तब हिन्दीके कवि किसी कल्पित नायिकाको तरह-तरहके उपदेश दे रहे थे। ये क्या सचमुच उनके हृदयके भाव थे? हमारी समझमें यहाँ कविकी कला-मात्र है, उनका व्यक्तित्व नहीं। यही कारण है कि हमें उनकी कला प्राण-हीन मालूम होती है। यथार्थ कविका दर्शन हम तभी करते हैं जब अन्तर्वेदनासे पीड़ित हो वे पुकार उठते हैं—'व्याध हू ते विहद असाधु हौं अजामिल लौं, ग्राह ते गुनाही कहो किनमें गिनाओगे।'

यहाँ कविको न तो राज-सभाका ध्यान है और न अपनी कलाका। वह एक बार अपने अन्तर्जगत्‌की ओर दृष्टि डालकर संसारसे अपनेको ऊँचा उठा ले जाता है—वहाँ जहाँ स्वयं विश्वनाथ हैं।

कृत्रिमताके इस युगमें भारतीय समाजकी रक्षा तुलसीदासके समान कवियोंने की। हिन्दी साहित्यके लिये तो तुलसीदासकी कृति ही स्वर्ग-सोपान है। कार्लाइलने ऐश्वर्य-मण्डित ब्रिटिश-साम्राज्यसे अधिक मूल्यवान शेक्सपियरकी रचनाको समझा है। पर वैभव-हीन भारतके लिये तो तुलसीदासका रामचरितमानस ही सर्वस्व है। विज्ञ लोग रसार्णवमें डूबे रहें, परंतु अज्ञोंने रामचरितमानसको ही अपनाया। हिंदू धर्मके आदर्शों की रक्षा तुलसीदासने की। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंने अपने-अपने साम्प्रदायिक साहित्यसे उपदेश ग्रहण किया, पर साम्प्रदायिक साहित्य बिहीन शिक्षा तुलसीदासजी देते रहे।

बृटिश-साम्राज्यके स्थापित होनेपर भारतवर्षमें सर्वत्र शान्ति स्थापित हुई। पर यह शान्ति अकर्मण्यताकी थी। क्रमशः यह अकर्मण्यता दूर हुई। पाश्चात्य सभ्यताके प्रभावसे भारतमें फिर चेतनता आई। पाश्चात्य विज्ञानके आलोकमें वे आत्म-परीक्षामें व्यस्त हुए। उन्हें अपनी स्थितिसे असन्तोष हुआ। असन्तोषका यह भाव अब प्रबल होने लगा है। इसने साहित्यमें भी प्रवेश किया और साहित्यके स्वरूपको ही बदल दिया। नवीन साहित्यकी सृष्टि होने लगी। जिन भारतीय प्रान्तोंमें इस साहित्य-

ने उन्नति की है वहां, हम कविताका एक नया ही आदर्श देखते हैं। वह आदर्श है मनुष्यत्वका विजय, स्वाधीनता और प्रेम।

८—हिन्दी-साहित्य और पाश्चात्य विद्वान्।

आधुनिक भारतवर्षका शिक्षा-गुरु इँग्लेंड है। जब भारतवर्षपर ब्रिटिश-जातिका शासन स्थापित हुआ तब यहाँ एक नवीन युगका आविर्भाव हुआ। भारतवर्षने इँग्लेंडसे पाश्चात्य-सभ्यताके मूल सिद्धान्त सीखे और उन्हीं सिद्धान्तोंके आधार-पर उसने अपने सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनको सङ्गठित करनेका उद्योग किया। आधुनिक युगमें जितने धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन हुए उनका कारण पाश्चात्य-सभ्यताका प्रभाव है। विजातीय सभ्यताके प्रभावसे समाजमें विच्छृङ्खलता आ ही जाती है और इसी कारण पाश्चात्य-सभ्यताके सङ्घर्षसे हिन्दू-समाजमें भारतीय मर्यादाकी रक्षा करना कठिन होगया। परन्तु भारतवर्षके लिये यह आघात नया नहीं था। उसने पहले भी कई ऐसे ही आघात सह लिये थे। भारतवर्षके इतिहाससे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि जब जब उसपर आघात हुए तब तब उसने उनसे लाभ ही उठाया। जिस प्रकार चन्दनपर आघात करनेसे उसकी सुगन्धि ही निकलती है उसी प्रकार भारतवर्षपर आघात होनेसे उसकी आत्मशक्तिका ही विकास होता है। इसीलिये जब भारतपर आघात हुआ तभी उसने अपनी सत्य-साधनाको एक नये ही रूपमें प्रकट किया।

इस्लाम-धर्म बड़ा प्रबल धर्म है। जहाँ-जहाँ यह धर्म गया वहाँ वहाँ इसने अपने विरोधी धर्मको दलित ही किया। जब भारत-पर इस धर्मका प्रबल आघात हुआ तब यहाँ कितने ही साधक उत्पन्न हुए जिनकी वाणीकी आलोचना करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतने अपने अन्तर्तम सत्यको प्रकटकर किस प्रकार इस्लाम-धर्मके आघातको सह लिया। सत्यका आघात केवल सत्य ही ग्रहण कर सकता है। इसीलिये जब किसी धर्मका आघात होता है तब प्रत्येक जाति अपने सत्यके उज्ज्व-लतम रूपको प्रकाशित करती है। सत्यके उज्ज्वल प्रकाशमें मिथ्याका अंश नष्ट हो जाता है। मुसलमानोंके अभ्युदय-कालमें हिन्दू-धर्मको अपनी आत्म-रक्षा करनी थी। उस समय नानक, कबीर, दादू आदि सन्तोंने भारतीय सत्यके चिरन्तन रूपको प्रकट किया, उन्होंने यह बतला दिया कि इस्लाम-धर्मका सत्य भारतीय सत्यका विरोधी नहीं है। उन्होंने उस सत्यको स्वायत्त कर लिया। भारतके हृदयमें सत्यकी वह अक्षय निधि है जिसमें सभी सत्योंका ग्रहण किया जा सकता है। इन्हीं महा-त्माओंकी शिक्षाओंसे हिन्दू और मुसलमानका सम्मिलन हुआ। इस सम्मिलनका फल यह हुआ कि हिन्दी-साहित्यमें कितने ही मुसलमान कवि हुए। इन मुसलमान कवियोंकी रचनायें हिन्दू-जातिकी सम्पत्ति है, उनके लिये प्रत्येक हिन्दी-भाषा-भाषी को गर्व है। मुसलमानोंके प्रभुत्वका अन्त होने पर भारतमें ब्रिटिश-जातिके साथ पाश्चात्य जगत्के सत्यकी जय घोषणा हुई।

भारतमें नवीन शिक्षाका प्रचार हुआ। इस शिक्षाके द्वारा भारतीय सत्यपर इतना आघात पहुँचा कि स्वयं भारतीय ही उसका अनादर करने लगे। भारतीय साहित्यके विषयमें लार्ड मेकालेने जो सम्मति प्रकट की थी वह अधिकांश शिक्षितोंकी राय हो गई। यद्यपि कुछ समयसे भारतीय विद्वान् अपने साहित्य और भाषाका आदर करने लगे हैं तो भी अभी मातृ-भाषाके प्रति उपेक्षाका भाव विद्यमान ही है। जब भारतीय विद्वानोंकी ही श्रद्धा अपने साहित्य पर कम थी तब पाश्चात्य विद्वानोंसे यह आशा कैसे की जा सकती थी कि उनमें कभी कोई जायसी अथवा रहीम उत्पन्न होगा। ब्रिटिश-जाति यहाँ शासन करनेके लिये आई है, ज्ञानार्जनके लिये नहीं। अतएव शासनके लिये शासित जातियोंकी भाषाओंका जितना ज्ञान आवश्यक है वही उनके लिये पर्याप्त है। कितनोंको तो यह ज्ञान भी असह्य है। इसलिये हिन्दी-भाषा-भाषियोंके लिये वे पाश्चात्य विद्वान् कम आदरके पात्र नहीं हैं जिन्होंने उनकी भाषाके प्रति अपना अकृत्रिम प्रेम प्रकट किया है। यहाँ उन्हींमेंसे कुछ विद्वानोंकी कृतियोंकी चर्चाकी जाती है।

भारतीय भाषाओंसे पाश्चात्य जातियोंका सम्पर्क तभी हो चुका था जब वे यहाँ पहले-पहल वाणिज्यके लिये आईं, परन्तु वाणिज्यके लिये विशेष भाषा-ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होती और जबतक कोई किसी भाषामें व्युत्पन्न नहीं हो जाता तबतक उसे उस भाषाके साहित्यका ज्ञान कैसे हो सकता है। जब

भारतसे योरपका कुछ घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया तब कुछ लोग यहाँ ईसाई-मतका प्रचार करनेके लिये भी आये। पहले-पहल उन्हींको भारतीय भाषाओंका विशेष ज्ञान प्राप्त करनेकी आवश्यकता हुई। हेनरिचनाथ नामक एक जर्मनने, सन् १६६४ में ब्राह्मणोंसे शास्त्रार्थ करनेके लिये संस्कृतका अध्ययन किया था। एक और जर्मन ईसाई, हेवक्स लेडन, जो यहाँ १६९९ ईसवी में आया था, संस्कृतज्ञ था। परन्तु भारतीय-साहित्यके अध्ययन-की विशेष आवश्यकता तब हुई जब वारन हेस्टिंग्ज़के समयमें बङ्गालमें अंगरेजोंकी प्रभुता स्थापित हुई। वारन हेस्टिंग्जने बङ्गाल में सुशासनकी व्यवस्था की। सुशासनके लिये यह आवश्यक था कि भारतवासियोंकी भाषा, साहित्य, धर्म आदिका ज्ञान हो। फिर बङ्गालमें सुप्रीमकोर्टके स्थापित होने पर हिन्दुओं और मुसलमानोंके धर्मशास्त्रोंका अध्ययन करना तत्कालीन न्यायाधीशोंके लिये आवश्यक हो गया। इसीसे सबसे पहले सर विलियम जोन्सको अरबी, फारसी और संस्कृतका ज्ञान प्राप्त करना पड़ा। सरविलियम जोन्सने संस्कृत पढ़कर अभिज्ञान शाकुन्तलका अनुवाद कर डाला, जिसका यह फल हुआ कि संस्कृत-भाषा और उसके साहित्यकी ओर पाश्चात्य विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट हुआ। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान और धर्म-विज्ञानकी सृष्टि हुई। क्रमशः सभी पाश्चात्य भाषाओंमें संस्कृतके अनेक ग्रन्थोंके अनुवाद होने लगे। संस्कृतके बाद प्राकृतिक भाषाओंकी ओर भी इन विद्वानोंका ध्यान गया और बौद्ध-धर्म और जैन-

भारतमें नवीन शिक्षाका प्रचार हुआ। इस शिक्षाके द्वारा भारतीय सत्यपर इतना आघात पहुँचा कि स्वयं भारतीय ही उसका अनादर करने लगे। भारतीय साहित्यके विषयमें लार्ड मेकालेने जो सम्मति प्रकट की थी वह अधिकांश शिक्षितोंकी राय हो गई। यद्यपि कुछ समयसे भारतीय विद्वान् अपने साहित्य और भाषाका आदर करने लगे हैं तो भी अभी मातृ-भाषाके प्रति उपेक्षाका भाव विद्यमान ही है। जब भारतीय विद्वानोंकी ही श्रद्धा अपने साहित्य पर कम थी तब पाश्चात्य विद्वानोंसे यह आशा कैसे की जा सकती थी कि उनमें कभी कोई जायसी अथवा रहीम उत्पन्न होगा। ब्रिटिश-जाति यहाँ शासन करनेके लिये आई है, ज्ञानार्जनके लिये नहीं। अतएव शासनके लिये शासित जातियोंकी भाषाओंका जितना ज्ञान आवश्यक है वही उनके लिये पर्याप्त है। कितनोंको तो यह ज्ञान भी असह्य है। इसलिये हिन्दी-भाषा-भाषियोंके लिये वे पाश्चात्य विद्वान् कम आदरके पात्र नहीं हैं जिन्होंने उनकी भाषाके प्रति अपना अकृत्रिम प्रेम प्रकट किया है। यहाँ उन्हींमेंसे कुछ विद्वानोंकी कृतियोंकी चर्चाकी जाती है।

भारतीय भाषाओंसे पाश्चात्य जातियोंका सम्पर्क तभी हो चुका था जब वे यहाँ पहले-पहल वाणिज्यके लिये आईं, परन्तु वाणिज्यके लिये विशेष भाषा-ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होती और जबतक कोई किसी भाषामें व्युत्पन्न नहीं हो जाता तबतक उसे उस भाषाके साहित्यका ज्ञान कैसे हो सकता है। जब

भारतसे योरपका कुछ घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया तब कुछ लोग यहाँ ईसाई-मतका प्रचार करनेके लिये भी आये। पहले-पहल उन्हींको भारतीय भाषाओंका विशेष ज्ञान प्राप्त करनेकी आवश्यकता हुई। हेनरिचनाथ नामक एक जर्मनने, सन् १६६४ में ब्राह्मणोंसे शास्त्रार्थ करनेके लिये संस्कृतका अध्ययन किया था। एक और जर्मन ईसाई, हेवक्स लेडन, जो यहाँ १६९९ ईसवी में आया था, संस्कृतज्ञ था। परन्तु भारतीय-साहित्यके अध्ययनकी विशेष आवश्यकता तब हुई जब वारन हेस्टिंग्ज़के समयमें बङ्गालमें अंगरेजोंकी प्रभुता स्थापित हुई। वारन हेस्टिंग्जने बङ्गाल में सुशासनकी व्यवस्था की। सुशासनके लिये यह आवश्यक था कि भारतवासियोंकी भाषा, साहित्य, धर्म आदिका ज्ञान हो। फिर बङ्गालमें सुप्रीमकोर्टके स्थापित होने पर हिन्दुओं और मुसलमानोंके धर्मशास्त्रोंका अध्ययन करना तत्कालीन न्यायाधीशोंके लिये आवश्यक हो गया। इसीसे सबसे पहले सर विलियम जोन्सको अरबी, फारसी और संस्कृतका ज्ञान प्राप्त करना पड़ा। सरविलियम जोन्सने संस्कृत पढ़कर अभिज्ञान शाकुन्तलका अनुवाद कर डाला, जिसका यह फल हुआ कि संस्कृत-भाषा और उसके साहित्यकी ओर पाश्चात्य विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट हुआ। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान और धर्म-विज्ञानकी सृष्टि हुई। क्रमशः सभी पाश्चात्य भाषाओंमें संस्कृतके अनेक ग्रन्थोंके अनुवाद होने लगे। संस्कृतके बाद प्राकृतिक भाषाओंकी ओर भी इन विद्वानोंका ध्यान गया और बौद्ध-धर्म और जैन-

धर्मके साहित्य-सागरका खूब मन्थन किया गया और अनेक ग्रन्थ-रत्न निकाले गये।

हिंदी-साहित्यमें पुरातत्त्वके प्रेमियोंके लिये वह सामग्री नहीं थी जो संस्कृत तथा प्राकृत-भाषाओंमें है। इसीलिये पाश्चात्य विद्वानोंकी दृष्टि उसपर नहीं गई। परन्तु पुरातत्व-प्रेमियोंके लिये आदरकी वस्तु न होनेपर भी ब्रिटिश-जातिके शासक-वर्गके लिये हिंदी-भाषा उपेक्षणीय नहीं थी। साहबोंके लिये ऐसी पाठ्य-पुस्तकोंकी आवश्यकता थी जिनसे वे सुगमतासे हिन्दी सीख सकें। ब्रिटिश-जातिके संघर्षसे हिन्दी-साहित्यको प्रारम्भिक कालमें पाठ्य-पुस्तकोंका एक स्तूप मिला। जब फ़ोर्ट विलियम कालेजमें डाक्टर जान गिलक्राइस्ट अध्यक्ष थे तब उनके तथा कैप्टेन अब्राहम लाकेट, जे० डब्ल्यू० टेलर और डाक्टर हण्टरके उत्साह दानसे कितनी ही पाठ्य-पुस्तकें निर्मित हुईं। डाक्टर जान गिलक्राइस्टकी आज्ञासे ही लल्लूलालजीने प्रेमसागर लिखा और सदलमिश्रने नासिकेतोपाख्यान। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि तभीसे वर्तमान हिन्दी-गद्यकी सृष्टि हुई। वह तो शासक वर्गकी बात हुई। इसाई-धर्मके प्रचारकोंने भी हिन्दीमें अनेक ग्रन्थ स्थापित किये। इनमें सबसे पहले विलियम केरीका नाम आता है। विलियम केरीने पहले पहल बाइबिलका अनुवाद किया। सम्पूर्ण बाइबिलका अनुवाद सन् १८१८ में प्रकाशित हुआ। जान चैम्बरलेन और जान क्रिश्चियनने पद्य-रचना भी की है। इनके सिवा दिल्लीके टामसन साहब इटावेके जानसन

साहब तथा वडन साहबके भी नाम उल्लेख करने योग्य हैं। सबसे प्रसिद्ध नाम एथरिङ्गटन साहबका है, जिनके भाषा-भास्कर-का प्रचार अभीतक हिंदीकी पाठशालाओंमें है। ईसाई-धर्मके प्रचारकोंने हिन्दी-साहित्यके लिये जो कुछ किया है उसका मूल्य अवश्य है, परन्तु साहित्यकी दृष्टिसे उनका कोई भी काम स्थायी महत्त्व नहीं रखता। अंग्रेजी साहित्यमें बाइबिलका जो स्थान है वह हिंदीमें नहीं है। भारतमें कितने ही ऐसे लोग ईसाई-मत में दीक्षित हो चुके हैं जिनकी मातृ-भाषा हिन्दी है। उन लोगों-के लिये भी बाइबिलका हिन्दी अनुवाद साहित्यका ग्रंथ नहीं है। यही एक कारण है जिससे हिन्दी-भाषा-भाषी ईसाइयोंमें मातृ-भाषाके प्रति प्रेम नहीं है।

यहां एक दूसरा प्रश्न उठता है। वह यह है कि जब मुसल-मानोंमें जायसीके समान श्रेष्ठ हिन्दी कवि हो सकता है तब क्या कारण है कि ईसाईयोंमें अभीतक कोई ऐसा कवि नहीं हुआ जिसकी रचना हिंदू-समाजमें आदृत होती। मुसलमानोंमें जो कवि हिंदू-धर्मकी ओर आकृष्ट हुए थे उनकी बात जाने दीजिये। जायसीकी गणना उन कवियोंमें नहीं हो सकती। यह कोई नहीं कह सकता कि जायसी अपने धर्मपर दृढ़ नहीं था। जायसीके समयमें मुसलमानोंके लिये जैसा भारतवर्ष था वैसा ही आधुनिक भारतवर्ष ईसाइयोंके लिये है। तो भी हिन्दी-साहित्यके क्षेत्रमें ईसाइयोंकी प्रतिभाका विकास क्यों नहीं हो सका। हमारी समझमें इसका कारण ईसा-धर्म नहीं, किन्तु

ईसा-धर्मके अनुयायियोंकी भावना है। यह वह भावना है जिसके कारण ईसाइयोंका दल भारतीय जीवनसे सर्वथा पृथक् हो जाता है। स्वदेश, स्ववेश और स्वभाषाके प्रति अधिकांश ईसाइयोंका अनुराग नहीं है। जिन पाश्चात्य विद्वानोंने भारत-वर्षमें ईसा-धर्मका प्रचार किया उनके लिये भारत स्वदेश नहीं था। स्वदेशकी भावनासे ही स्वभाषापर अकृत्रिम अनुराग होता है। हिन्दी-साहित्यका ज्ञान अर्जितकर जो पाश्चात्य विद्वान् यशस्वी हो चुके हैं उन्होंने भी हिन्दी-साहित्यको पुष्ट नहीं किया। उन्होंने जो कुछ लिखा अँगरेजीमें ही लिखा। उन्होंने अँगरेजीमें ही हिन्दी-भाषा और साहित्यकी समालोचना की, अँगरेजी में ही हिन्दी-ग्रन्थोंका सम्पादन किया, अँगरेजीमें ही हिन्दी-व्याकरणोंकी तुलनामूलक व्याख्या की। यह नहीं कहा जा सकता कि इच्छा करनेपर भी वे हिन्दी-भाषामें अपने मनोभाव नहीं प्रकट कर सकते थे। कितने ही भारतवासी अँगरेजीमें ग्रन्थ-प्रणयनकर अँगरेजोंके भी आदर-पात्र हो गये हैं। अतएव यदि पाश्चात्य विद्वान् प्रयत्न करते तो वे हिन्दीमें भी ग्रन्थ लिख सकते। परन्तु उन्होंने लिखा नहीं। इसका कारण है कि हिन्दी-भाषा उनके लिये उस मृत शरीरके समान थी जिसको चीर-फाड़कर शरीर-विज्ञानके जिज्ञासु अपना ज्ञान बढ़ा सकते हैं। ईसा-धर्म-प्रचारकोंके लिये हिन्दी उन अन्धविश्वासि-योंकी भाषा थी जो घोर नरककी यातना सहनेके लिये ही पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए हैं। यदि भारतवर्षके प्रति मुसलमान-

जातिका भी यही भाव होता तो हम जायसी और रहीमको पाते भी नहीं। कुछ ही समयके बाद मुसलमानोंके लिये भारतवर्ष स्वदेश हो गया और स्वदेशकी भावनाने ही उनमें हिन्दी-भाषाके प्रति अनुराग उत्पन्न किया। हिन्दी-भाषा-भाषी ईसाइयोंमें स्वभाषाके प्रति तभी प्रेम उत्पन्न हो सकता है जब वे भारतीय जीवनसे अपनेको पृथक् न समझें। अस्तु।

ब्रिटिश-जातिके शासक-वर्गमेंसे कुछ विद्वानोंने हिन्दी-साहित्यकी बड़ी सेवा की है। इनमें डाक्टर ग्रियर्सन, डाक्टर हार्नली, एफ० एस० ग्राउस, मिस्टर जानबीम्स आदि विद्वानों-का यशोगान अभीतक किया जाता है। भारतपर ब्रिटिश-जातिका आधिपत्य है, परन्तु उस जातिके अधिकांश लोग भारतके विषयमें नितान्त अनभिज्ञ रहते हैं। इन विद्वानोंने हमारे शासकोंके लिये हिन्दी-भाषाका ज्ञान ही सुलभ नहीं कर दिया, किन्तु उन्हें हिन्दी-साहित्यसे भी परिचित करा दिया। इसके सिवा हिन्दी-भाषाकी खोजके सम्बन्धमें भी उन्होंने बड़ा काम किया है। इस विषयमें उनका कथन प्रमाणरूपमें उपस्थित किया जाता है। शासक और शासित जातियोंमें अभेद्य सम्बन्ध रखनेके लिये यह भी आवश्यक है कि ब्रिटेन भारतमें सिर्फ अफ़सर ही न भेजे, विद्यार्थी भी भेजे। इससे पूर्व और पश्चिम के बीच जो व्यवधान है वह कुछ तो अवश्य हटेगा।

पाश्चात्य विद्वानोंमें एफ़० एस० ग्राउसकी कीर्त्तिका सबसे अच्छा स्मारक रामचरितमानसका अनुवाद है। ग्राउस साहबका

जन्म सन् १८३३ में हुआ था। आप आक्सफ़ोर्ड विश्व-विद्यालय के एम० ए० थे। सन् १८६० में आप बङ्गालकी सिविल सर्विसमें प्रविष्ट हुए। बीस वर्षतक आपने यहाँ काम किया। सन् १८७६ में आपने रामचरितमानसकी प्रस्तावनाका अनुवाद प्रकाशित कराया। सन् १८८० में उसका पूरा अनुवाद छप गया। आपका यह अनुवाद बड़ा अच्छा हुआ है। भाषा और भाव दोनोंकी दृष्टिसे अनुवाद अच्छा है। इँग्लेंडमें रामचरितमानसका प्रचार आपसे ही हुआ, यद्यपि उसकी महत्ता डाक्टर ग्रियर्सन साहबने भी प्रदर्शित की। डाक्टर साहब तुलसीदासजीके भक्तोंमें से हैं। उन्होंने रामचरितमानसकी बड़ी प्रशंसा की है। इसी सम्बन्धमें इटलीके डाक्टर टैसीटोरीका भी नाम उल्लेख करने योग्य है। आपने अपने देशमें तुलसीदासजीका गौरव बतलाया था। आपकी मृत्यु इसी देशमें—बीकानेरमें—हुई थी।

मिस्टर जान बीम्सका नाम 'भारतीय आर्य भाषाओंका तारतम्यबोधक व्याकरण' लिखनेके कारण हुआ। परन्तु चन्दवरदाईकी कविताका अध्ययन पहले-पहल आपने ही किया। आपने चन्दकी कविताका छन्दोबद्ध अनुवाद करना भी आरम्भ किया था। परन्तु जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि रासोके कर्त्ता चन्द हैं या नहीं, तब आपने यह अनुवाद-कार्य छोड़ दिया। डाक्टर हार्नलीने रासोके एक भागका अनुवादकर एशियाटिक सोसाइटीकी (*Bibliothica Indica*) नामक ग्रन्थमालामें छपवाया था। बीम्स साहबने चन्दकी भाषापर कई लेख लिखे थे।

ग्रियर्सन साहबने भाषा-सम्बन्धी जाँचका जो काम किया है वह अमूल्य है। इसके पहले सन् १८९४ में आपने बिहारी-सतसईका एक संस्करण प्रकाशित किया था। इसे आपने बड़े परिश्रमसे तैयार किया था। आपने जायसीके पद्मावतका भी एक संस्करण निकाला था। एम० ए० मैक्लिफ़ नामक एक विद्वानने सिक्खरिलीजन नामक एक वृहत् ग्रन्थ लिखा है। यह छः जिल्दोंमें समाप्त हुआ है। इसका प्रकाशन क्लेरेंडन प्रेससे हुआ। इसमें ग्रन्थ साहबका अनुवाद है। डब्ल्यू० आर० पागसन साहबका लिखा हुआ बुन्देलोंका इतिहास है। उसमें लाल कविके छत्र प्रकाशका अनुवाद है।

हिन्दीके हितैषियोंमें पिंकाट साहबका नाम सदैव प्रेम और श्रद्धाके साथ लिया जायगा। पिंकाट साहबके चरित-लेखकने लिखा है कि यों तो आजतक कई योरोपियन विद्वानोंका ध्यान हिन्दीकी ओर रहा, पर यदि हमसे कोई पूछे कि किस महानुभावने उसके हितके लिये सबसे अधिक व्यग्रता दिखाई, किसने उसके भाण्डारमें अपने हाथोंसे कुछ रखनेका कष्ट उठाया, कौन उसकी बढ़ती देखकर सबसे अधिक प्रफुल्लित हुआ और कौन उसके बोलनेवालोंकी ओर सबसे अधिक आकर्षित हुआ तो हमको फ्रेडरिक पिंकाटका ही नाम लेना पड़ेगा। इसमें सन्देह नहीं कि पिंकाट साहब भारतवर्षके सच्चे मित्र थे। वे अपनेको हिंदुस्तानका मित्र लिखते भी थे। भारतपर उनका अकृत्रिम प्रेम था। वे भारतवर्ष कभी नहीं आये। उनका जीवन इँग्लेण्डमें ही

व्यतीत हुआ। वहीं वे एक छापेखानेके मैनेजर थे । परन्तु भारतीय साहित्य और भारतीय प्रजाकी हितकामनामें वे सदैव निरत रहे। उन्होंने अपने एक पत्रमें—जो सरस्वतीमें प्रकाशित हो चुका है—अपने हृदयका सच्चा उद्गार प्रकट किया था। उन्होंने लिखा था—यद्यपि मैं हिन्दुस्तानमें कभी नहीं रहा तथापि बहुत कालसे उस देशकी भाषाओंका अध्ययन मेरे लिये एक बहुत ही मनोरंजक कार्य रहा। मेरी सम्मतिमें हर एकके लिये भरसक अंग्रेजों और हिन्दुओंके बीच एका स्थापित करना एक बहुत ही प्रशंसनीय काम है। परस्पर एक दूसरेकी प्रतिष्ठा करना तबतक अप्रारम्भ है जबतक दोनों एक दूसरेके ज्ञान और बुद्धिबलकी इयत्ता न समझ लें। अतएव दोनों जातियोंको मिलजुलकर साथ-साथ रहनेके लिये उनकी भाषायें सीखना और उनकी पुस्तकें पढ़ना बहुत जरूरी है। पिंकाट साहबने स्वयं भारतीय भाषा और साहित्यका अध्ययन किया और इंग्लेण्डमें उसका प्रचार भी किया।

योरपकी वर्तमान सभ्यताका उद्गार एशियामें ही हुआ था। एशियासे ही सभ्यताका पाठ पढ़कर योरपने अब, पांच छ सौ वर्षों के बाद अपनी एक विशेष सभ्यताकी सृष्टि की है। अंगरेजी भाषा और साहित्यका प्रचार बढ़नेपर भारतीयोंने उस नवीन ज्ञानालोकका दर्शन किया है। यह उनके आधुनिक साहित्यसे प्रकट होता है। यदि ज्ञानके क्षेत्रमें पूर्व और पश्चिम का सम्मिलन हो जाय, यदि दोनों एक दूसरेके तत्त्व हृदय-

ङ्गम कर लें, तो पूर्व और पश्चिमके सम्बन्ध-स्थापनसे एक अपूर्व साहित्य और सभ्यताकी सृष्टि होगी। अतएव जो लोग इस मिलनके पुरस्कर्ता हैं वे समस्त मानव-जातिके हितैषी हैं।

———

६—आधुनिक हिन्दी-काल

आधुनिक हिन्दी साहित्यके प्रारम्भमें लल्लूलाल, राजा लक्ष्मणसिंह, राजा शिवप्रसाद और भरतेन्दु हरिश्चन्द्रके नाम प्रसिद्ध हैं। लल्लूलालजीका प्रेमसागर अभीतक आदरणीय है। राजा लक्ष्मणसिंहने कालिदासके रघुवंश, मेघदूत और अभिज्ञान शाकुन्तलका अनुवाद करके हिन्दी-साहित्यकी श्री वृद्धि की। राजा शिवप्रसादजीसे हिन्दी-साहित्यको प्रारम्भिक पाठ्य पुस्तकें प्राप्त हुईं। भारतेन्दुजीकी कुछ रचनायें हिन्दीकी स्थायी सम्पत्ति हैं। इनकी रचनाओंसे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि साहित्यका आदर्श ही बदल गया। लोगोंने मानव-जीवनसे ही कलाकी सामग्री प्राप्त करनेकी चेष्टा की। यह प्रयत्न अभीतक हो रहा है। हरिश्चन्द्रके पहले सज्जाद सुम्बुल तथा परीक्षा-गुरुके समान ग्रन्थोंकी रचना नहीं की जा सकती। ये दो ग्रन्थ साहित्यके श्रेष्ठ रत्न नहीं हैं, परन्तु इनसे यह प्रकट हो जाता है कि हिन्दीमें मनुष्यकी कलाका विषय हो गया है, नायकके रूपमें नहीं किन्तु अपने यथार्थ रूपमें।

आधुनिक साहित्यमें कुछ ही ग्रन्थ स्थायी साहित्यमें परिगणित हो सकते हैं। साहित्यके दो विभाग किये जा सकते हैं, एक तो सामयिक साहित्य जो समाजका अनुसरण करता

है और दूसरा स्थायी साहित्य जो समाजके भविष्य-भाग्यका विधाता है। सामयिक साहित्य समाजकी उपेक्षा नहीं कर सकता। वह उसकी रुचिके अनुकूल ही चलता है, पर स्थायी साहित्यको समाजके विरुद्ध भी चलना पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि इससे पहले-पहल उसकी उपेक्षा की जाती है, फिर उपहास किया जाता है और अन्त में उसपर घोर आघात भी किये जाते हैं। यदि वह इन सबका सामना कर सका तो समझना चाहिए कि वह चिर-कालतक जीवित रहेगा।

हिन्दीमें कुछ समयतक सामयिक कविताओंकी ही धूम थी। देशके सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रमें जो आन्दोलन हो रहे हैं उनका अनुसरण कर कविताओंकी रचना की जाती है। जिधर समाजकी आकृष्टि होती है उधर कवियोंकी भी दृष्टि जाती है। ऐसी रचनायें निरर्थक नहीं होतीं। इनसे तत्कालीन भावोंका अच्छा प्रचार हो जाता है। पर यहीं उनकी उपयोगिताका अन्त हो जाता है।

वर्तमान हिन्दी-काव्योंकी तीन विशेषतायें हैं। पहली विशेषता यह है कि अब कविताओंके लिये खड़ी बोली प्रयुक्त की जाती है। खड़ी बोलीके पक्षपाती उसका पक्ष-समर्थन इसी लिये करते हैं कि उसके द्वारा गद्य और पद्यकी भाषा कभी एक हो जायगी। ब्रज-भाषाकी प्रान्तीयताको हटाकर वे हिन्दीमें राष्ट्रीयताका समावेश करना चाहते हैं। दूसरी बात यह है कि कविता प्रासादिक होनेके कारण जनताके लिये बोध-गम्य हो

जायगी और तब उसके द्वारा लोगोंमें सुरुचि फैलेगी। यह सच है कि हिन्दीके प्राचीन काव्योंमें भाव और माधुर्यकी प्रचुरता है। परन्तु भाव और माधुर्यका ठेका न तो ब्रज-भाषाने लिया है और न खड़ी बोलीने ही। परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि गद्य और पद्यकी भाषा कभी एक नहीं हो सकती। कोई कितना भी कवित्व-पूर्ण गद्य क्यों न लिखे, वह भाषा पद्यके लिये उपयुक्त हो नहीं सकती। गद्यको पद्यमें परिणत करते ही उसका स्वरूप बदल जाता है। न तो गद्यकी मधुरता पद्यमें आ सकती है और न पद्यकी मधुरता गद्यमें ही। हिन्दी-साहित्यमें खड़ी बोलीकी कविताओंकी जो वृद्धि हो रही है उसका कारण ढूँढ़नेके लिये हमें वर्तमान समाजकी ओर ध्यान देना चाहिये। भारतवर्षके लिये यह युग परिवर्तन-काल है। अङ्गरेजी शिक्षाका प्रभाव भारतपर खूब पड़ा। अङ्गरेज़ी शिक्षाकी बदौलत भिन्न-भिन्न प्रान्तोंका पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ रहा है। वर्तमान युगकी नवीनताने समाजको अस्थिर कर दिया। सभी लोग आत्मोन्नतिके लिये कटि-बद्ध हो गये हैं। उन्हें अपनी वर्तमान स्थितिसे असन्तोष है। असन्तोषका यह भाव इतना तीव्र हो गया है कि लोगोंको भूतकालका बन्धन असह्य है। अतएव जब कोई यह कहता है कि तुम्हारे भावोंकी अभिव्यक्तिके लिये इतना ही स्थान है, इससे अधिक तुम नहीं जा सकते, तब लोग उस निर्धारित सीमाको भङ्ग कर डालते हैं। सभी देशोंमें यही भाव कभी न कभी जाग्रत होता ही है। समाजमें जब किसी

नवीन भावका विशेष प्राबल्य होता है तब यह उस भावको व्यक्त करनेके लिये नवीन पथ ढूँढ़ निकालता है। बौद्धकालमें प्राचीन संस्कृतका स्थान प्राकृतने ले लिया। इसका कारण यह नहीं है कि संस्कृत-भाषा अनुपयुक्त है। बात यह है कि बौद्ध-धर्मके सार्वजनिक भावोंके लिये सार्वजनिक भाषाकी ज़रूरत थी। इसीलिये प्राकृतका प्राबल्य हुआ। बौद्धधर्मका पतन होनेपर संस्कृत-साहित्यका पुनरुद्भव हुआ, परन्तु शीघ्र ही उसका प्रचार अत्यन्त परिमित हो गया। हिन्दीमें जबतक भक्तिवादका प्राबल्य था तबतक व्रज-भाषाका आदर था। परन्तु जब व्रज-भाषाके साहित्यने काव्य-कलाके चमत्कारपर अपनी शक्ति लगा दी तब वह सार्वजनिक न होकर परिमित हो गया और अब राष्ट्रीय भावोंकी अभिव्यक्तिके लिये खड़ी बोली उपयुक्त समझी जाती है। खड़ी बोलीकी प्रचारवृद्धिसे भारतकी वर्तमान अवस्था सूचित होती है।

हिन्दीके सामयिक पत्रोंमें कुछ समय पहले जो कवितायें निकलती थीं उनमें अभी कलाका विशेष चमत्कार नहीं देखा जाता। उस समय हमारे कविगण स्पष्ट बातें कहते थे। उन्होंने अपनी कविता-कामिनीका मुख किसी अवगुण्ठनसे नहीं ढका है। दो एकको छोड़कर प्रायः सभी कवि आचार्यके आसनपर बैठकर लोगोंको कर्तव्या-कर्तव्यकी शिक्षा देते थे। उनकी सम्मति थी कि कवियोंका काम मनोरञ्जन नहीं, शिक्षा-दान है। अतएव शिक्षाके नामसे वे स्कूलोंकी दीवारोंपर चिपकाने योग्य उपदेशोंके

गट्ठे हिन्दीके पाठकोंपर लादने लगे। कोई कवि करुणाव्यञ्जक स्वरसे उपदेश देने लगा तो कोई निदेश सूचक वाक्योंमें शिक्षा प्रदान करने लगा। इसके बाद राष्ट्रीय गानोंकी गर्जना सुनाई देने लगी। राष्ट्रीय भावोंकी पोषक जो कवितायें हिन्दीके पत्रोंमें छपती हैं। उनमेंसे अधिकांस 'खूं' और 'कलेजे' से लदफद रहती हैं। उनमें उर्दू-हिन्दीका विचित्र सम्मिश्रण देखकर यह कोई भी कह सकता है कि अब हिन्दू-मुसलमानकी एकता स्थापित हो गई है!

आधुनिक कविताके आरम्भ-कालमें हिन्दीके पाँच कवि विशेष लब्धप्रतिष्ठ हुये—पण्डित श्रीधर पाठक, पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय, बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पण्डित नाथूराम शङ्कर शर्मा और पण्डित रामचरित उपाध्याय। पाठकजीकी कवितामें सरलता है, उपाध्यायजीकी रचनामें उनका भाषाधिकार लक्षित होता है, गुप्तजीकी कृतिमें माधुर्य है और रामचरित उपाध्यायजीकी कवितामें आडम्बर-हीन गम्भीरता है। शङ्करजीका स्थान इन सबसे पृथक् है। गुप्तजीके तो वे बिलकुल विरुद्ध हैं। उनकी कवितामें एक प्रकारकी उद्दण्डता है। पढ़ते समय ऐसा जान पड़ता है कि कविको शब्द भी असह्य हो गया है—

शंख जो बराबरीकी घोषणा सुनावेगा तो
नार कट जायगी उदर फट जायगा।
शंकर कलीकी छबि कदली दिखावेगा तो
ऐंठ अट जायगी छवाउ छट जायगा॥

शङ्करजीने अपनी कविताके विषयमें स्वयं लिखा है— मिश्रीके साथ बाँस फाँसका सा मेल जान शङ्करकी भद्दी कविता भी पढ़ लीजिए। सचमुच आपकी कविता मिश्रीकी डली है। यदि कोई इस मिश्रीसे बांसकी फांसको अलग निकालनेकी चेष्टा करेगा तो वह मिश्री भी खो बैठेगा। पर गुप्तजीकी रचना मक्खनके समान मधुर और कोमल है। उसके रसास्वादनमें ज़रा भी तकलीफ न होगी।

कवियोंमें गर्वकी मात्रा अधिक रहती है। कुछ लोग कवियोंकी गर्वोक्तियोंपर आक्षेप करते हैं। उनका कथन है कि ये शालीनता-सूचक नहीं। कालिदास और तुलसीदास बड़े भारी कवि थे। उन्होंने अपने काव्योंमें एक भी अभिमान-सूचक शब्द नहीं लिखा। पर हम इसे नहीं मानते। जब किसी कविने अनन्त सत्यका आभास पा लिया है तब यह सम्भव नहीं कि वह उसकी परीक्षाके लिये संसारका आह्वान न करे। जब भवभूतिने यह कहा कि मेरी रचना अक्षय है तब उसने यही प्रकट किया कि जिस सत्यका वर्णन मैंने अपने नाटकोंमें किया है वह अक्षय है। यदि कभी कोई मेरा समानधर्मा होगा तो वह उस सत्यका दर्शन कर लेगा। कालिदासजी और तुलसीदासजीने भी यही बात कही है, यद्यपि उनके कहनेका ढङ्ग भिन्न है। कालिदासने लिखा है कि सुवर्णकी परीक्षा अग्निसे ही होती है। अतएव मेरी रचनाकी परीक्षा करनेके अधिकारी सभी नहीं है। यदि तुम्हें मेरी रचना सदोष मालूम होती है तो उसे आगमें

डालकर देख लो। वह दीप्तिमती होकर निकलती है कि नहीं।

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा।

उनके इस कथनका क्या दूसरा अभिप्राय है? तुलसीदास-जीने लिखा है—

सपनेहु सांचेहु मोंहिपर जो हरगौरि पसाउ
तौ फुर होउ जो कहेंउ सब भाषा भनिति प्रभाव

यह गर्वोक्ति नहीं, इससे कविकी आत्म-शक्ति सूचित होती है। इसीके कारण कविका आसन सर्वसाधारणसे ऊँचा रहता है। शङ्करजीकी रचनामें उनका यह आत्म-विश्वास साफ़ लक्षित होता है। गुप्तजीका 'भगवान भारतवर्षमें गूँजे हमारी भारती' उनका आत्म-शैथिल्य प्रकट करता है। मिल्टन और मधुसूदनदत्तने वाग्देवीको आह्वान किया। उनका अभिप्राय यह था कि हमारे मुखसे कवित्वकी वह धारा निकले जो वाग्देवीके मुखमें शोभा दे। पर गुप्तजी भगवान्की कृपासे अपनी भारतीका प्रचार करना चाहते हैं।

गेटीका कथन है कि कविमें एक अलक्षित शक्ति निवास करती है। उसीकी प्रेरणासे वह कविता लिखता है। कवि उस शक्तिके हाथमें वीणामात्र है। रवीन्द्र बाबूने अपनी कवितामें इस शक्तिका स्पष्ट उल्लेख किया है। जो इस शक्तिका अनुभव नहीं करता वह कवि नहीं, तुक्कड़ है। जो यथार्थमें कवि होता है उसका भाषापर पूरा प्राधान्य रहता है। कवि भाषाका अनु-

गमन नहीं करता, पर भाषा कविका अनुगमन करती है। कवि न तो मुहावरोंका ख़याल रखता है और न अलंकारका। जो लोग मुहावरोंका "प्रोक्रूस्टीन बेड" बनाकर उसीके अनुसार अपने कवित्वको काटते छांटते हैं वे वैयाकरण हो सकते हैं, पर कवि नहीं। शंकरजी अपनी रचनामें भाषाको खींच लाते हैं, उसके पीछे दौड़ते नहीं, वे अलंकारोंका जमघट लगा देते हैं। जो परीक्षक होगा वही उनमेंसे रत्न चुनता रहेगा। वही बतावेगा कि कौन पुराने रत्न हैं और कौन नये रत्न। शङ्करजीको इसकी परवा नहीं है।

कज्जलके कूटपर दीप-शिखा सोती है कि,
श्याम घन मंडलमें दामिनीकी धारा है।
यामिनीके अंकमें कलाधरकी कोर है कि,
राहुके कबन्ध पै कराल केतु तारा है॥
शंकर कसौटीपर कंचनकी लीक है कि,
तेजने तिमिरके हियेमें तीर मारा है।
काली पाटियोंके बीच मोहिनीकी मांग है कि,
ढालपर खांडा कामदेवका दुधारा है॥

उपर्युक्त कवियोंमें बाबू मैथिलीशरण गुप्त सबसे अधिक लोकप्रिय हैं। उनकी लोकप्रियताका अनुमान इसीसे हो सकता है कि नये ग्रन्थोंमें जितना प्रचार उनकी भारत-भारतीका हुआ उतना और किसी ग्रंथका नहीं। उनकी कविताकी पहली विशेषता है मधुरता और भावकी स्पष्टता। हमारा विश्वास है

कि करुणरसका चित्र अंकित करनेमें वे सबसे अधिक सफल हुए हैं। रंगमें भंग, जयद्रथवध, भारत-भारती और कृषकमें कितने ही पद्य करुणरसोत्पादक हैं।

पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्यायका प्रियप्रवास खूब प्रसिद्ध हुआ यदि यह महाकाव्य न होकर एक छोटा काव्य होता तो हमारी समझमें अधिक लोकप्रिय होता। उपाध्यायजी भिन्न-भिन्न शैलियोंमें काव्य रचना करते हैं। उनके चौपदेकी भाषासे प्रियप्रवासकी तुलना करनेसे उनका भाषाधिकार विदित होता है। रामचरित उपाध्यायजीका रामचरित चिन्तामणि हिंदीमें आदरणीय है।

उपर्युक्त कवियोंकी कविताओंमें मौलिकता है, नवीनता है, भावकी विशदता है और है गम्भीरता। अच्छी रचनायें अल्प संख्यक हैं सही, पर उनमें वह गुण है जो वर्तमान हिन्दी-साहित्यमें आदरणीय है। पर अब हिन्दीकी काव्यधारा एक दूसरे ही मार्गसे बहने लगी है।

हिन्दीकी इस नवीन काव्य-धारा पर एक विद्वान्का यह कथन है कि हिन्दीके पद्य-भागमें इस समय सर्वाङ्गीण परिवर्तन हो रहा है, प्रत्येक भाषाका पद्य-भाग महत्वपूर्ण और स्थायी समझा जाता है, उसके परिवर्तन का प्रभाव साहित्यके दूसरे अंगों पर भी पड़ता है इसलिये उसकी रक्षा और सुधार पर भारतीय भाषाओंमें खास कर संस्कृत और हिन्दी उर्दूमें जितने ग्रन्थ लिखे गये हैं उतने गद्यके संबंधमें नहीं। यह परिवर्तन और

क्रान्तिका युग है। सब विषयोंमें नित्य नये परिवर्तन हो रहे हैं, कवितामें भी क्रान्ति हो रही है और बड़े जोरोंसे हो रही है, हिन्दी-कविताका तो एक दम काया-कल्प हो रहा है, दूसरी भाषाओंकी कविताओंमें भी परिवर्तन हुआ है, पर हिन्दीमें परिवर्तनका ढंग कुछ निराला ही है। मैं परिवर्तनका विरोधी नहीं हूं, पर परिवर्तन सोच-समझकर करना चाहिये, मनमाने प्रकारसे नहीं, मेरे इस निवेदनका यही तात्पर्य है।

हिन्दीकी नवीन कवितामें भाषा, भाव, शैली सभी कुछ नया हो गया है, अपरिचित है। वह कुछ कह रहे हैं, यह तो सुन पड़ता है, पर क्या कह रहे हैं, यह समझमें नहीं आता।

वह कहते हैं—"बुलबुल बोलती है, मस्तीमें गाती है, कोई समझे न समझे, इससे उसे मतलब नहीं, वह अपने भावोंकी व्याख्या नहीं करती फिरती।"

ठीक है, पर बुलबुल अपने गीतोंको छपाती भी तो नहीं, उसके सचित्र और विचित्र संस्करण भी नहीं निकालती, न किसी से प्रशंसा या दाद ही चाहती है, समझने वालोंको कोसती भी नहीं—अपने प्रतिपक्षी शुक, सारिका और कोकिल आदि पक्षियों पर व्यङ्ग-बाण भी नहीं छोड़ती, उनका उपहास भी नहीं करती। फिर कवि तो 'तैवाने नासिक' व्यक्तवाक प्राणी है, वह तो जो कुछ कहता है दूसरोंको समझानेके लिये—अपने भाव दूसरों तक पहुंचाने के लिये कहता है, वह 'स्वान्तः सुखाय' के उद्देश्यसे भी जो रचना करता है उससे भी और लाभ उठाने

के अधिकारी हैं, भाषाका प्रयोजन भी तो शायद यही है— दूसरों तक अपने भाव पहुंचानेका साधन ही भाषाकी सर्व-सम्मत परिभाषा है। जो बात किसीकी समझमें ही न आवेगी उसका प्रभाव ही क्या पड़ेगा। अज्ञेयता तो कविताका एक प्रधान-दोष है, प्राचीन आचार्योंने पहेलीकी गणना इसीलिये कवितामें नहीं की।

"मैं नवीनताका विरोधी नहीं, समर्थक हूं। कोई सज्जन मेरे इस निवेदनको 'रहस्यवाद' पर आक्षेप न समझें, मैं रहस्य-वादका परम प्रेमी हूं, उसकी खोजमें रहता हूं, कहीं मिल जाता है तो भावावेशकी सी दशामें पहुंच जाता हूं, सिर धुनता हूं और मजे ले लेकर पढ़ता हूं, जी खोलकर दाद देता हूं, दूसरोंको सुनाता हूं। पर हिन्दीकी नवीन रचनाओंमें ऐसा रहस्यवाद कम— पैसेमें पाईसे भी बहुत कम— सो भी कभी किसीकी रचनामें मिलता है, और वह भी उस दर्जेका नहीं जैसा उर्दूमें तसव्वफ़का रंग है। मैं हिन्दीमें हृदय—स्पर्शी उच्च कोटिके रहस्यवादका इच्छुक हूं, पहेलियोंसे बेशक पहलू बचाता हूँ और कागजके पत्तेको पारिजातका पुष्प नहीं कहता"।

सिद्धान्त एक बात है और सिद्धान्त का अनुसरण करना दूसरी बात है। किसी सिद्धान्तकी प्रशंसा या निन्दा करनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि जो लोग अपनेको उस सिद्धान्त-के अनुयायी कहते हैं, उनके कार्य प्रशंसनीय या निन्दनीय हैं।

ब्रह्मचर्य प्रशंसनीय है, परन्तु क्या इसीसे यह कहा जा सकता है कि जो लोग अपनेको ब्रह्मचारी कहते हैं वे जो कुछ करें सभी प्रशंसनीय है। क्या ब्रह्मचारीका नाम उनके कुत्सित आचरण-को छिपा सकता है? इसी प्रकार ब्रह्मचारी नामधारियोंके कुत्सित आचरणको देखकर क्या ब्रह्मचर्यकी निन्दाकी जा सकती है? ब्रह्मचर्यकी महत्ता देखनेके लिये हमें उन व्यक्तियों-का चरित्र देखना चाहिये जिनमें ब्रह्मचर्यका पूर्ण विकास हुआ है। यदि उनके चरित्रमें महत्ता है तो यह दृढ़ता-पूर्वक कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्यमें महत्ता है। यही बात साहित्य-शास्त्र-के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। अंगरेजी में कितने ही साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्त प्रचलित हैं, आइडियेलिज्म, रोमैन्टि-सिज्म रीयेलिज्म, मिस्टिसिज्म इत्यादि। यदि हमें इन सिद्धान्तोंकी परीक्षा करनी है तो हम उन्हीं रचनाओंकी परीक्षा करेंगे जिनमें इन सिद्धान्तोंका पूर्ण विकास हुआ है। यदि कोई ब्रज-साहित्य-का माधुर्य लेना चाहे तो वह निकृष्ट कवियोंकी रचनाओंको नहीं पढ़ेगा। वह श्रेष्ठ कविकी ही रचनाओंको पढ़ेगा और तभी उसे ब्रज-साहित्यके गौरव का बोध होगा। यह तो स्पष्ट है कि श्रेष्ठ रचनायें बहुत कम होती हैं। अधिकांश रचनायें हीन-श्रेणी की ही होती हैं। जो श्रेष्ठ कवि हैं उनकी भी सभी रचनायें अच्छी नहीं कही जा सकतीं। अतएव छायावादके नाम-से हिन्दीमें जितनी कवितायें प्रकाशित हो रही हैं उनमें यदि एक भी अच्छी कविता है तो उसी एक कवितासे हमें छायावाद-

की परीक्षा करनी चाहिये। यदि उनमें कुछ विशेषता है तो यह दृढ़ता पूर्वक कहा जा सकता है कि छायावादमें कुछ विशेषता है। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि छायावादमें विशेषता मान लेनेपर भी हम यह नहीं कह सकते कि छायावादके नामसे आजकल जो कुछ कवितायें निकल रही हैं वे सभी विशेषताओं से युक्त हैं।

छायावाद की सबसे बड़ी विशेषता है भावोन्माद और कल्पना। पन्तजीकी रचनाओंमें सर्वत्र विस्मयका भाव है। जान पड़ता है, प्रकृतिके सौन्दर्यपर कवि मुग्ध तो अवश्य हो गया है, पर उसे वह समझ नहीं सकता। वह विस्मयसे अभिभूत हो गया है। यह कौन है, यह क्या है, यह तो ऐसा जान पड़ता है, यह तो बड़ा विचित्र है, यह तो इससे मिलता जुलता है, कौन जाने यह क्या कहना चाहता है, "यही भाव प्रकृतिकी भिन्न भिन्न लीलाओंको देखकर कविके हृदयमें उठा करते हैं। जब वह उन भावोंको पद्योमें व्यक्त करना चाहता है तब कभी तो उसे यह सन्देह होता है कि लोग हंसेगे, कभी वह यही सोचकर स्वयं हंस पड़ता है, कभी वह यह सोचता है कि कबतक इन्हें छिपायें। कभी प्रकृतिकी भयंकरतासे वह घबरा भी जाता है। पन्तजीकी कविताओंमें हमारी समझमें तो यही भाव हैं और ये ठीक उनकी अवस्थाके अनुरूप हैं। प्रारम्भिक अवस्थामें कल्पनाकी प्रधानता रहती है। इसीसे पन्तजीकी रचनाओंमें अनुभूतिकी नहीं, कल्पनाकी प्रधानता है। मिस्टिसिज्मकी कविताओंमें जो

अस्पष्टता जान पड़ती है उसका भी कारण है अनुभूति। पन्तजी-की रचनाओंमें जहां अस्पष्टता है, वहां कल्पित चित्रको ठीक रूप देनेमें कठिनता होनेके कारण ही अस्पष्टता आई है। उसका कोई गुप्त अभिप्राय नहीं है। यदि पाठक अपनी कल्पना-शक्तिसे पन्तजीके कल्पित चित्रोंको देखनेका प्रयास स्वीकार करें तो उनके लिये वे अस्पष्ट चित्र भी स्पष्ट हो जायंगे। छायावादके कई समर्थक पन्तजी और भारतीय आत्मा दोनों की रचनाओंको छायावादके अन्तर्गत मानते हैं। भारतीय आत्माजीकी रचनाओं में भावुकता है। उनमें "फेन्सी" अर्थात कल्पनाका सर्वथा अभाव है। इसके विपरीत पन्तजीकी कविताओंमें भावुकताका सर्वथा अभाव है। वे सब कल्पना "फेन्सी" के नादान शिशु' हैं इसीसे छायावादके संबंधमें कुछ निश्चित बात कहना बड़ा कठिन हो जाता है। हमारी समझमें तो छायावादके नामसे प्रचलित कविताओंमें न तो भावोंकी एकता है, न विचारोंकी और न शैलीकी। पर अधिकांश रचनाओंमें तो वही भावोन्माद है जो युवावस्थाके प्रेमका सूचक है। उनमें मिस्टिसिज्म तो नहीं, रोमैन्टिसिज्म अवश्य है। उर्दूमें जिस भावकी प्रेरणासे दिलपर छुरी फिर जाती है, हिन्दी की अधिकांश छायावादात्मक रचनाओं में उसी भावके कारण हृत्तन्त्रीके तार बज उठते हैं। ये प्रियतम अनन्त पथमें अभिसार-यात्राकी कल्पना अवश्य करते हैं, पर इनकी दृष्टि पृथ्वीके बहुत छोटे स्थानमें ही अवरुद्ध रहती है। हिन्दीके कुछ लेखकोंने वर्तमान युगको हिन्दीका पुनरुत्थानकाल

माना है। अंगरेजी साहित्यमें एलिज़ाबेथका शासन काल पुनरुत्थानकालके अन्तर्गत है। उस समय भी हिन्दीकी इन्हीं 'प्रियतमाओंकी तरह कितनी ही 'लोरा' और 'बीट्रिस' की सृष्टि हो चुकी है। प्रत्येक नवयुवक कालेज छोड़ते ही किसी 'लोरा' या 'बीट्रिस' के लिये कुछ पद्योंकी रचना करता था। आजकल हिन्दीमें भी कुछ ऐसी ही प्रवृत्ति हो गई है। ऐसी कविताओंकी लोक-प्रियताका भी यही कारण है। उनमें रस नहीं, सस्ती भावुकता है, यह भावुकता केवल पद्योंमें नहीं, गद्यमें भी प्रकट हो रही है। राजनैतिक लेखोंमें भी विवेचना की अपेक्षा भावुकताका प्रचार बढ़ रहा है। परन्तु यह अवस्था चिरस्थायी नहीं होती। यह सच है कि यह नवीन युग की सूचना देती है। बाढ़ आने पर मलिनता आती ही है। अतएव यह न तो चिन्ताकी बात है और न आशंकाकी। छायावादियोंके लिये भी यही बात कही जा सकती है। जिनमें सचमुच कवित्व शक्ति है उनकी रचनाओंमें कुछ विशेषता होनी चाहिये। समालोचकोंके विरोधसे उनकी यह विशेषता और भी स्पष्ट हो जायगी। जिन रचनाओंमें गुण हैं वे साहित्यमें अपना स्थान बना ही लेती हैं।

———

१०—हिंदीका नाट्य साहित्य और उसकी गति

नाटक शब्द नट्-धातुसे बना है। 'नट' नाचनेके अर्थमें प्रयुक्त होता है। अंगरेजीमें नाटकको ड्रामा कहते हैं। ड्रामाके लिये संस्कृतमें नाटककी अपेक्षा 'रूपक' शब्द अधिक उपयुक्त है। ड्रामाका मूल शब्द इसी अर्थका द्योतक है। ड्रामा उन रचनाओंको कहते हैं, जिनमें अन्य लोगोंके क्रिया-कलापोंका अनुकरण इस प्रकार किया जाता है मानो वही जूलियस सीज़र है। दूसरोंका अनुकरण करना मनुष्य मात्रका स्वभाव है। बालक अपने माता-पिताका अनुकरण करता है। छोटे लोग बड़े-का अनुकरण करते हैं। नाटकोंकी उत्पत्ति मनुष्योंके स्वभावहीसे हुई है। एक बात और है। नाटकमें सिर्फ क्रिया-कलापोंका ही अनुकरण नहीं होता, मनुष्योंकी हृदगत भावनाओंका भी अनु-करण किया जाता है। यह तभी सम्भव है, जब हम दूसरोंके सुख-दुखको अपना सुख-दुख समझ लें। यही सहानुभूति है। यह भाव भी स्वाभाविक है। सच पूछा जाय, तो इसीके आधार पर मानव-समाज स्थित है। यदि यह न रहे, तो मानव-समाज छिन्न-भिन्न हो जाय। अस्तु। हमारे कहनेका तात्पर्य यही है कि नाटकोंका मूल-रूप मनुष्योंके अंतर्जगत्में विद्यमान है। वाह्य जगत् में उसका विकास क्रमशः हुआ है।

नाटकमें नट दूसरेके कार्यों का अनुकरण करता है। इसीको अभिनय कहते हैं। यह कला है। भावोंके आविष्करणको कला कहते हैं। किसी भी कलामें नैपुण्य प्राप्त करनेके लिये विशेष योग्यताकी जरूरत है। इसीलिये यद्यपि अनुकरण करनेकी प्रवृत्ति सभीमें होती है, तथापि नाट्यकममें दक्ष होना सबके लिये सम्भव नहीं।

नाटक और नाट्यकलामें परस्पर सम्बन्ध है। नाटकके लिये नाट्यकला आवश्यक है। परन्तु नाटक स्वयं एक कला है, और उसकी उत्पत्ति मनुष्योंके अन्तःकरणमें होती है। वाह्य जगत्में उसको प्रत्यक्ष कर दिखाना नाट्य-कलाका काम है। नाटकोंकी गणना काव्योंमें की जाती है। उन्हें दृश्य-काव्य कहते हैं, अर्थात् वे ऐसे काव्य हैं जिनमें एक कविकी कुशलताका प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। यद्यपि रंगभूमिमें कवि नहीं आता, तथापि नटोंके द्वारा हम उसीकी वाणी सुनते हैं। नाट्यशाला शरीर है, और कवि उसकी आत्मा।

कुछ समय पहले लोगोंकी यह धारणा हो गई थी कि भारतीय नाटकोंमें ग्रीस-देशके नाटकोंका अनुकरण किया गया है। इसकी पुष्टिके लिये हिन्दू-नाटकोंमें प्रयुक्त यवनिका शब्द उल्लेख किया जाता था, यद्यपि अभीतक इसीका निश्चय नहीं हुआ कि ग्रीक लोग यवनिकाका उपयोग करते भी थे कि नहीं।

लोगोंका यह समझना ठीक नहीं कि भारतने ग्रीक नाटकोंका अनुकरण किया है। इसमें सन्देह नहीं कि ग्रीस और भारत

ने परस्पर बहुत कुछ लिया-दिया है। पर इसका मतलब यह नहीं कि एकने दूसरेका अनुकरण किया है। प्रतिभा कोरा अनुकरण नहीं करती। वह अभीष्ट वस्तुको ग्रहण कर उसे अपना लेती है। न तो ग्रीसने भारतका अनुकरण किया है, और न भारतने ग्रीसका। दोनोंने अपनी-अपनी प्रतिभासे अपने-अपने साहित्यकी वृद्धि की है। ग्रीक और भारतीय नाटकोंमें परस्पर समता ही नहीं है। हिन्दू-नाटकोंमें ग्रीक नाटकोंकी एकताओंकी उपेक्षा की गई है। ग्रीक भाषामें दुखान्त नाटक हैं, परन्तु हिंदुओंके साहित्यमें एक भी ऐसा नाटक नहीं। इतना हम जरूर कहेंगे कि हिन्दू-नाटकोंके विदूषकको इंगलैण्डकी रानी एलिज़बेथके समयके नाटकोंमें, तथा रोमन नाटकोंमें भी, क्लाउनका रूप प्राप्त हो गया है। क्लाउन कहते हैं भांड़को। पीशल नामके विद्वानका भी यही कहना है कि विदूषकके ही आदर्शपर योरपके नाटकोंमें बफून अर्थात् भांड़की सृष्टि हुई है।

हिंदू नाटकोंकी उन्नति प्राचीन कालहीमें हो गई थी। मध्य-एशियामें उपलब्ध एक ताड़पत्रके ग्रन्थसे विदित होता है कि कुशान-राजोंके कालमें ही—जब मध्य एशिया भारतीय साम्राज्यके अन्तर्गत था—हिन्दू-नाटकोंकी श्री-वृद्धि हो गई थी। छठी शताब्दीमें हिन्दू लोग जावा द्वीपमें बस गये थे। वहांके छाया नाटकोंको देखकर हम जान सकते हैं कि हिन्दू-नाटकोंका कितना प्रभाव उनपर पड़ा है। बर्मा, स्याम और कंबोडियामें भी रंगमंचपर राम और बुद्धके चरित्रोंका अवलम्बन करके लिखे

गये नाटक खेले गये हैं। रामावतारका अभिनय तो मलाया-द्वीप-समूहमें ही नहीं, चीनतकमें किया गया था।

हिन्दू नाटकोंके इस श्री-वृद्धिका कारण यह है कि हिन्दू-मात्र-की दृष्टिमें नाटकोंका धार्मिक महत्व है। योरपमें नाट्यशालाओं-के प्रति अनेक बार घृणा प्रदर्शित की गई। उनका प्रचार भी रोका गया। धार्मिक ईसाईका यह विश्वास था कि लोगोंको पाप-पथपर ले जानेके लिये ही शैतानने आमोद-प्रमोदोंकी सृष्टि की है। रोममें नाटक खेलनेवालोंका कुछ भी आदर नहीं होता था। चीनमें उनकी संतानोंको यह अधिकार न था कि वे परी-क्षाओंमें बैठ सकें। पर हिंदू लोग नाट्यशास्त्रको पंचम वेद मानते हैं। उनका विश्वास है कि भरत मुनिने संसारके कल्याण के लिये उसका आविष्कार किया है।

सबसे प्राचीन नाट्य-शास्त्र भरत मुनि का ही है। पाणिनि के समय में भी नाट्य-शास्त्र प्रचलित थे। उन्होंने दो आचार्यों का उल्लेख किया है—शिलालिन और कृशाश्व। पतंजलि के समय में भी नाटक खेले जाते थे। उनके महाभाष्य में कंस-बध और बलि-बंधन के खेले जाने का साफ साफ उल्लेख है।

हिन्दू-नाट्य-साहित्य का प्राचीनतम रूप देखने के लिये हमें वेदों की आलोचना करनी चाहिये। ऋग्वेद के कई सूक्तों-में कुछ संवाद है—जैसे यम और यमी का संवाद, पुरूरवा और उर्वशी का संवाद इत्यादि। इनकी गणना हम नाटकों में कर सकते हैं। पुरूरवा और उर्वशी का संवाद ही पुराणों में, कथारूप-

में, विस्तार-पूर्वक वर्णित हुआ है। और उसे ही कालिदास ने नाटक का रूप दिया है। जान पड़ता है, पहले-पहल नाटकों में सिर्फ संगीत ही रहता था। पीछे से उनमें संवाद (अर्थात् भाषण या कथोपकथन) जोड़े गये हैं। फिर, इसके अनंतर, कदाचित् उनमें कृष्णचरित का समावेश किया गया है। कुछ भी हो, इसमें तो सन्देह नहीं कि बहुत प्राचीन काल में ही नाटकों का अभिनय होने लगा था।

हिन्दू-नाटककार कार्यों और विचारों की एकताओं का खूब ख़याल रखते थे। उनके मर्मवाद ने सभी नाटकों की घटनाओं को कार्यकारण की श्रंखला में बांध रक्खा है। हिन्दू-साहित्य में संयोगांत और वियोगांत नाटक अलग—अलग नहीं है। उनमें हर्ष और शोक के भाव मिश्रित रहते हैं। रंगभूमि में अत्यन्त शोकोत्पादक अथवा विचार-वर्द्धक दृश्य नहीं दिखलाये जाते थे; क्योंकि ऐसा करने से मन विकृत हो जाने का डर था। शोक की उपेक्षा नहीं की जाती थी ; पर ज़ोर इस बात पर दिया जाता था कि शोक का सहन त्याग से किया जाना चाहिये। संसार जिन नियमों से बंधा है, वे हमलोगोंके लिये श्रेयस्कर हैं।

प्रत्येक नाटक के आरंभ और अंत में आशीर्वादात्मक श्लोक रहते हैं। उनका विषय प्रायः धार्मिक ग्रन्थों से लिया जाता है। ग्रीक-नाट्यकार, जर्मन कवि और अंगरेज शेक्सपियर आदि चरित्र-चित्रण में ही अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। उनका विषय है मनुष्य। हिन्दू-नाटककारों का विषय है प्रकृति। उनके

लिये प्रकृति ही यथार्थ में शिक्षा देने वाली है। यही कारण है कि हिन्दू-नाटक प्रकृति-सम्बन्धी उत्सवोंमें खेले जाते थे। अधिकतर वसंतके उत्सवमें, जब विश्व-प्रकृतिका नव-जीवन आरंभ होता है। बिना दुखके, बिना तपस्याके, पवित्रता नहीं आती। बिना आत्म-त्यागके आत्मोन्नति नहीं होती। हिन्दू-नाटकोंमें यही भाव स्पष्ट करके दिखाया गया है।

(२)

हिन्दीमें मौलिक नाटकोंकी संख्या बहुत कम है। भारतेन्दु-जीके नाटक विद्यार्थियोंके पाठ्य ग्रन्थ हो गये हैं। उनके सत्य-हरिश्चन्द्र और नीलदेवीके अभिनय भी हुए हैं। परन्तु अब उनके अभिनयोंसे दर्शकोंको कदाचित् सन्तोष न हो। रणधीर-प्रेममोहिनी, सज्जाद-सम्बुल, चन्द्रकला-भानुकुमार आदि नाटक पुस्तकालयकी ही शोभा बढ़ा सकते हैं। अभी हालमें जो दो चार नाटक निकले हैं वे बिलकुल निस्सार हैं। प्रेमचन्दजीका संग्राम अवश्य चित्ताकर्षक है। हिन्दीमें कुछ अच्छे नाटकोंके अनुवाद हुए हैं।

बम्बईके हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालयने द्विजेन्द्रलाल रायके सभी नाटकोंके अनुवाद करा डाले। इनमें, हमारी समझमें, 'उस पार' सबसे अच्छा है और 'पाषाणी' सबसे निकृष्ट। पण्डित रूपनारायण पाण्डेय गज़बके अनुवादक हैं। आप गद्य-पद्य दोनों अच्छी तरह लिख सकते हैं। ताराबाई आपकी पद्यात्मक रचनाका नमूना है और उसमें आपको सफ-

लता भी अच्छी हुई है। पर सभी नाटकोंमें आप वह रस नहीं ला सके। दो चार नाटकोंमें, तो आपकी शक्ति बिलकुल ही क्षीण हो गई है। ऐसा जान पड़ता है कि आपको अनुवाद करना था, इसलिये किसी तरह उससे अपना पिण्ड छुड़ा लिया।

भारतवर्षमें अंगरेजी शिक्षाके साथ-साथ शेक्सपियरका भी आगमन हुआ। यहाँ स्कूलों और कालेजोंमें शेक्सपियरके नाटक पढ़ाये जाते हैं। इसलिये शिक्षित लोगोंमें तो उसके नाटकोंका प्रचार है, पर सर्वसाधारणमें अभीतक उनका अच्छा प्रचार नहीं। नाटक सर्वसाधारणके लिये ही लिखे जाते हैं। यह खेदकी बात है कि अभी भारतवर्षके अधिकांश लोग शेक्सपियरके नाटकोंका आस्वादन नहीं कर सकते। बङ्गालमें पहले-पहल शेक्सपियरके नाटकोंके आधारपर कहानियों और उपन्यासोंकी रचनायें हुईं। विद्यासागरका भ्रान्ति-विलास, कविवर हेमचन्द्र चट्टोपाध्यायका नलन-वसन्त, दीनबन्धु मित्रका जलधर ओ वकेश्वर, हेमलेटका छायानुवाद हरिराज आदि ग्रन्थ इसी कोटि के हैं। गिरीशचन्द्रने ही सबसे पहले मैकबेथका अनुवाद बँगलामें किया। उनका यह अनुवाद हुआ भी अच्छा। हालमें ही उथेलोका एक अच्छा अनुवाद, बंगलामें, श्रीयुक्त देवेन्द्रनाथ वसुने किया है।

हिन्दीमें अभीतक शेक्सपियरके नाटकोंका अच्छा अनुवाद नहीं निकला। बम्बई और कलकत्तेकी पारसी-नाटक मण्डलियोंने शेक्सपियरके कुछ नाटकोंके भ्रष्ट अनुवाद जरूर कराये हैं

उनमें शेक्सपियरके नाटकोंका बड़ा ही विकृत रूप देखनेमें आता है। बाबू गदाधरसिंहने उथेलोको उपन्यासके ढङ्गपर लिखा है भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रने मर्चेन्ट आव् वेनिसका अनुवाद किया है। उसीका एक अनुवाद बम्बईसे भी प्रकाशित हुआ है। इस प्रान्तके एक लाला साहबने भी दो नाटकोंको हिन्दीमें लिखा है। काशीसे हेमलेटका एक अनुवाद निकला है। उथेलोका भी अनुवाद प्रकाशित हुआ है। पुरोहित गोपीनाथ, एम० ए०, ने भी दो एक नाटकोंका अनुवाद किया है। सिरसा, ज़िला इलाहाबाद के परलोकवासी बाबू काशीनाथ खत्रीके लिखे हुए—कहानीके रूपमें भी—कई नाटक विद्यमान हैं। इसके सिवा शेक्सपियरके नाटकोंका कथा भाग उपन्यासके ढङ्गपर और भी कई महाशयोंने लिखा है। पर शेक्सपियरकी प्रतिभा देखनेके लिये ये लेख पर्याप्त नहीं। शेक्सपियरके नाटकोंका सफलतापूर्वक अनुवादकर लेना कठिन है। इसका सबसे बड़ा कारण है, उनके विदेशीय भाव। भारतवर्षके समाजमें और इंग्लेंडके समाजमें बड़ी विभिन्नता है। वहाँ जो अनुचित नहीं वह यहाँ सर्वथा अयोग्य प्रतीत होता है। काशीके जिस हेमलेटके अनुवादका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं उसे पढ़नेसे यह बात भलीभाँति प्रकट हो जाती है कि लेखक उसमें हेमलेटकी माताको विधवा-विवाहके दोषसे विमुक्त करना चाहता है। फल उसका यह हुआ है कि उसमें एक बहुत बड़ा सामाजिक दोष आगया है। उससे वह और भी पतित हो गई है।

हिन्दीके एकमात्र नाटककार जयशंकर प्रसाद हैं। प्रसाद जी कवि हैं, उपन्यास लेखक हैं, आख्यायिका लेखक हैं और नाट्यकार भी हैं। उनकी सभी रचनाओंमें नवीनता है। उनकी भी शैली विशेषतासे युक्त है। उनके सभी ऐतिहासिक चरित्रोंमें सजीवता है। भिन्न-भिन्न पात्रोंकी सृष्टिमें उन्हें यथेष्ट सफलता हुई है। उनके अजात शत्रु और स्कन्दगुप्तसे हिंदीके स्थायी साहित्यकी विशेष श्री वृद्धि हुई।

———

११—हिन्दीका कला-साहित्य

(१)

और तब ? इसी प्रश्नसे कथाका आरम्भ होता है। कथा चाहे सामाजिक हो या ऐतिहासिक, उसमें चाहे लौकिक भावोंका विश्लेषण किया गया हो अथवा तत्वोंका निरूपण, इसमें सन्देह नहीं कि उसमें कथा भागकी ही प्रधानता रहती है। उपन्यासके किसी भी पाठकसे पूछिये कि उपन्यास है क्या, वह यही उत्तर देगा कि उपन्यास कथा है। कथाकारका पहला उद्देश्य यही होता है कि वह पाठकोंकी कौतूहल-वृत्तिकी तृप्तिके ही लिये प्रयत्न करता है। जब वह एक घटनाका वर्णन कर चुकता है तब पाठकोंके हृदयमें यह प्रश्न उठना चाहिये कि और तब क्या हुआ ? यदि पाठकोंको आनेवाली बातोंको जाननेके लिये कोई कौतूहल नहीं हुआ। यदि उन्हें होने वाली घटनाओंका आभास मिल गया तो कथाका रसही नष्ट हो गया। एकके बाद एक घटनाका वर्णन इस प्रकार किया जाना चाहिये कि पाठकोंके चित्तमें सदैव औत्सुक्य बना रहे, आगेका वृत्तान्त जाननेके लिये वे लोग व्यग्रही रहें। मनुष्योंकी इसी कौतूहल-वृत्तिके कारण प्राचीन कालसे लेकर आज तक कथाओंकी सृष्टि होती आ रही है। आख्योपन्यास

अथवा सहस्र रजनी चरित्रकी शाहजादीमें अन्य कितनेही गुण थे परन्तु उसकी प्राण-रक्षा उसके केवल इसी एक गुणसे हुई कि वह कहानी कहनेका ढङ्ग जानती थी। रात भर वह अपनी कहानी इसी तरह कहती चली जाती थी कि श्रोताके हृदयमें कौतूहलकी बराबर वृद्धि होती रहे। और ज्योंही कथाका अन्त जाननेके लिये, श्रोता उद्ग्रीव हो जाता था त्यों ही कथाको वहीं असमाप्त कर वह चुप रह जाती थी। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि कथाका अन्त जाननेके लिये बादशाहको एक दो दिन नहीं, एक हजार दिनतक बराबर उत्सुकतासे प्रतीक्षा करनी पड़ी। इतने दिनोंतक जिस कौशलसे शाहजादीने बादशाहकी औत्सुकता नष्ट न होने दी वही सभी उपन्यासकारोंके लिये आवश्यक है, अपनी इसी निपुणताके कारण उपन्यासकार लोकप्रिय होते हैं। कहा जाता है कि जब डिकेन्सके उपन्यास अंग्रेजी पत्रोंमें प्रकाशित होते थे तब सभी पाठक आगामी अङ्कके लिये बड़े व्यग्र रहते थे। भारतवर्षमें बंकिम बाबूके उपन्यास भी वंग-दर्शनमें क्रमशः प्रकाशित हुए हैं। उनके उपन्यासोंके लिये भी लोग वैसे ही व्यग्र रहते थे। अतएव अच्छे उपन्यासका लक्षण यही है कि वह अपने कथाभागको पाठकोंके लिये सदैव कौतूहल वर्द्धक बनाये रखता है। इसी प्रकार वह बुरा उपन्यास कहा जा सकता है जिससे पाठकोंके हृदयमें कौतूहलका यह भाव उदित ही नहीं होता। उपन्यासोंकी यह व्याख्या साहित्यकी दृष्टिसे कितनी ही निम्नकोटिकी क्यों न हो—क्योंकि उसमें उपन्यासपर

केवल कथाकी दृष्टिसे विचार किया गया है परन्तु, इसमें संदेह नहीं कि सभी उच्च कोटिके उपन्यासोंमें यह विशेषता अवश्य रही है। अब हम उपन्यासोंके कथा भागको विश्लेषणकर देखें कि किस प्रकार उपन्यासकार अपने पाठकोंकी कौतूहल वृद्धि करनेमें समर्थ होता है। मनुष्य मात्रका यह स्वभाव है कि जो बात हम जानते हैं उसे जाननेके लिये हम लोगोंको कौतूहल नहीं होता। यह बात सभी जानते हैं कि नदीमें जल होता है। इसलिये यदि कोई आकर हमसे कहे कि अमुक नदीमें जल है तो हमें कौतूहल नहीं होगा। परन्तु मान लीजिये कि गर्मीके कारण सभी नदियाँ सूख गई हैं। उस समय यदि हम यह सुनें कि किसी नदीमें जल है तो हमें अवश्य कौतूहल होगा। मतलब यह कि असाधारणतासे कौतूहलका भाव उत्पन्न होता है। हम जैसा जानते हैं, जैसा सोचते हैं, जैसा देखते हैं, ठीक वैसी ही बात होनेपर हमारा चित्त उसकी ओर कभी आकृष्ट नहीं होगा। परन्तु यदि उसके विपरीत कुछ भी हुआ तो हमारा ध्यान उसकी ओर अवश्य जायगा। यही कारण है कि उपन्यासकार अपने कथा-भागमें केवल उन्हीं घटनाओंका वर्णन करता है जिनमें कुछ असाधारणता होती है। चार पांच सौ पृष्ठोंमें उपन्यासकार किसी मनुष्यके १५, २० वर्षोंका हाल बता जाता है। यदि उपन्यासकार यह चेष्टा करे कि वह अपने पात्रके जीवनके एक-एक दिनकी छोटी-बड़ी सभी घटनाओंको बतलाये तो कई हजार पृष्ठोंमें भी उसका उपन्यास समाप्त नहीं होगा और उसमें कौतू-

हलकी कोई सामग्री भी न रहेगी। इसलिये वह उसके जीवनकी कितनी ही घटनाओंको छोड़कर कुछ ही घटनाओंको वर्णन करता है। जिन घटनाओंको वह चुनता है उन्हींमें उसका नैपुण्य प्रकट होता है। घटनायें ऐसी होनी चाहिये जिनसे उपन्यासके पात्र के समस्त जीवनका हमें ज्ञान हो जाय और हमारे कौतूहलका भी भाव बना रहे। किन घटनाओंसे व्यक्तित्व का विकाश होता है, किनसे चरित्रकी विशेषता प्रकट होती है, यह न जाननेसे छोटे लेखक कितनी ही असम्बद्ध बातें उपन्यासमें लिख जाते हैं। सारांश यह कि उपन्यासमें हम कालक्रमसे घटनाओंका वर्णन करते हैं परन्तु उसके साथ ही महत्ताके विचारसे ही हम कुछ ही घटनाओंको चुनते हैं और अवशिष्ट बातोंको बिलकुल ही छोड़ देते हैं। अब हमें साधारणतापर कुछ विचार कर लेना चाहिए। कहना नहीं होगा कि उपन्यासकार कल्पनाके द्वारा कितनी ही घटनाओंकी सृष्टि करता है और पाठक उन घटनाओंपर बिलकुल विश्वास कर लेता है। सहस्र रजनी चरित्रमें ऐसी कितनी ही घटनाएं हैं जिनपर आधुनिक युगके सभी लोग विश्वास नहीं करेंगे। इसलिये यदि आधुनिक युगका लेखक उन्हीं घटनाओंके द्वारा पाठकोंकी कौतूहल-वृद्धि करना चाहे तो उसकी चेष्टा विफल होगी। घटनायें असाधारण होनेपर भी ऐसी होनी चाहिए कि उनकी सम्भावनीयतामें पाठकोंको कभी सन्देह न हो। यों तो संसारमें सभी बातें सम्भव हैं परन्तु लेखकको वैसी ही घटनाओंका वर्णन करना चाहिये जिनके

होनेकी अधिक संभावना है। अंग्रेजीके एक प्रसिद्ध लेखक स्टीवेन्सन साहबने कुछ कहानियां लिखी हैं। उनका नाम उन्होंने रक्खा है 'नव-आरव्योपन्यास'। प्राचीन आरव्योपन्यासकी घटनायें अब हमें अतिरंजित मालूम पड़ती हैं। पर उन दिनोंके लोगोंके लिये घटनायें अतिरंजित नहीं, सर्वथा विश्वासनीय थीं। तत्कालीन लोगोंकी रुचि और विश्वासके आधारपर ही शाहजादीने उन घटनाओंका वर्णन किया था। स्टीवेन्सन साहब ने वैसी ही विस्मयजनक घटनाओंका वर्णन किया है, परन्तु उनके होनेकी संभावनामें पाठकोंको संदेह नहीं हो सकता क्योंकि लेखकने उनकी रुचि और विश्वासपर विचारकर उनकी सृष्टि की है। उपन्यासोंमें सभी समय जीवनके आदिसे लेकर अन्त-तककी घटनायें वर्णित नहीं होती, प्रायः जीवनके बीचकी ही कुछ बात बतलाकर छोड़ दी जाती हैं। आदि और अंतकी बातें पाठक अपनी ही कल्पनाके द्वारा बना लेते हैं। सच पूछिये तो उन बातों को जाननेकी उन्हें जरूरत भी नहीं होती। पाठकोंके कौतूहल वृत्तिकी तृप्ति जितनी बातोंसे हो सकती है, उनसे अधिक बातें उन्हें बतलानेसे विरक्ति होती है। कथा भागकी यह विशेषता-किसी भी उपन्यासको चित्ताकर्षक बना लेती है। परन्तु पाठकों-पर इसका स्थायी प्रभाव कभी नहीं पड़ता। उसके लिये तो आख्यान वस्तुकी विशेषता और चरित्र-सृजनकी कुशलता चाहिये। उप-न्यासकारोंकी महत्ता इसीपर अवलंबित है।

———

हिन्दी-साहित्यमें उपन्यासोंके तीन युग व्यतीत हो चुके हैं। पहले युगमें काशीके उपन्यासोंकी धूम थी। दूसरे युगमें कलकत्ताके उपन्यासोंका प्रचार हुआ। तीसरे युगमें बम्बईके उपन्यासोंकी अच्छी चर्चा हुई। इसका मतलब यह नहीं है कि जब काशीमें उपन्यासोंकी रचना हो रही थी तब बम्बईसे कोई उपन्यास प्रकाशित हुआ ही नहीं। सच पूछा जाय तो हिन्दीके अधिकांश उपन्यासोंके प्रकाशनका श्रेय इन्हीं तीन नगरोंको है। जबसे हिन्दीके वर्तमान साहित्यका उद्भव हुआ है तबसे आज तक हिन्दी-साहित्यकी श्री वृद्धि इन्हीं तीन नगरोंमें हुई है। हमने केवल अपनी सुविधाके लिये हिन्दीके औपन्यासिक साहित्यको तीन युगोंमें विभक्त किया। इन तीनों युगोंमें सदृशता है और विभिन्नता है। सदृशता है अंगरेजी उपन्यासोंकी शैलीमें। काशीके उपन्यासकारोंमें बाबू देवकीनन्दन खत्री और पण्डित किशोरीलाल गोस्वामीके नाम खूब प्रसिद्ध हैं। कलकत्तेके उपन्यासोंमें अधिकांश बँगला उपन्यासोंके अनुवाद हैं, बम्बईके लज्जारामजीकी रचनायें प्रसिद्ध हैं। इसके सिवा बँगलाके कई अच्छे अच्छे उपन्यासोंके अनुवाद भी वहींसे प्रकाशित हुए हैं। हिन्दीमें बंगलाके अनेक प्रसिद्ध उपन्यासोंके अनुवाद हो चुके हैं। रमेश बाबू, बङ्किम बाबू, रवीन्द्र बाबू और शरत बाबूके ग्रन्थ आदरणीय हैं। अब हम हिन्दीके अंगरेजी उपन्यासोंपर विचार करना चाहते हैं।

हिन्दीमें अंगरेजीके निम्नलिखित उपन्यासकारोंके ग्रन्थ विद्यमान हैं:—(१) रेनाल्ड (२) कनन डायल (३)मेरी कुरेली (४) कालिन्स (५) गोल्डस्मिथ (६) शेरीडन (७) विक्टर ह्यूगो (८) डूमा (९) जार्ज ईलियट (१०) हेगर्ड और (११) स्विफ्ट। अभी हालमें प्रेमचन्दजीने अनाटो फ्रान्सके एक उपन्यासका अनुवाद किया है। इनमें ह्यूगो और डूमा इंग्लेंडके लेखक नहीं हैं। इनके सिवा अङ्गरेजीकी दो दो आनेमें बिकने वाली पचीसों किताबें हिन्दींमें अज्ञात रूपसे विद्यमान हैं। कलकत्तेके जासूसी उपन्यासोंमें ऐसे ही ग्रंथोंकी भरमार है।

हिन्दीके अधिकांश लेखक अङ्गरेजी उपन्यासोंको हिन्दू-समाजके अनुकूल बना डालते हैं। हम इसे बुरा नहीं समझते, पर है यह काम टेढ़ा। यदि इस काममें हम ज़रा भी चूके तो उपन्यासका रूप बड़ा विकृत हो जाता है। "दी वो मेन इन ह्वाइट" नामक अङ्गरेजी उपन्यासका अनुवाद हिन्दीमें है। उसका नाम है शुक्लवसना सुन्दरी। उसमें अनुवादकने बड़ी सफलतासे अङ्गरेजी समाजको ब्राह्मसमाजमें परिणत कर दिया है। एक दूसरा उपन्यास है प्रेमकान्त। यह गोल्डस्मिथके "बिकार आव् वेकफ़ील्डका" रूपान्तर है। इसमें अनुवादकको सफलता नहीं हुई है। परिच्छद भारतीय होनेसे क्या हुआ, काया तो अँगरेज़ी ही है। मेरी कुरेलीकी इन्नोसेन्ट भी 'हृदयकी परख' नामक उपन्यासमें 'सरला' के रूपमें अनुकूल नहीं जँचती। चित्रकारके साथ सरलाका कोर्टशिप तो बहुत ही भद्दा है। जार्ज इलियटका

"सिलास मार्नर" प्रेमचन्दजीके सुखदेवके रूपमें भी अच्छा है। कनन डायलके "शर्लाक होम्स" गोपालरामजीके गोविन्दराम बन गये हैं और अच्छे बन गये हैं। बात यह है कि जिन अँगरेजी उपन्यासोंमें अतिरञ्जित घटनाओंकी ही प्रधानता है उनमें तो अनुवादकको सफलता हुई है, पर जिन उपन्यासोंमें कथाका गौरव समाजके आदर्श पर स्थित है उनके अनुवाद भद्दे होगये हैं। किसी भी देशके आदर्शको समझनेके लिये पाठकको उदार-हृदय होना चाहिए। हिन्दू-समाजकी दृष्टिमें विधवा-विवाह गर्हित है और बहुपत्नी-विवाह दूषित नहीं है। पर अंगरेज़ी समाजका आदर्श इसके बिलकुल विपरीत है। अतएव जो अनुवादक अँगरेजी उपन्यासोंको भारतीय समाजके आदर्शके अनुकूल बनाना चाहते हैं उनकी चेष्टा विफल होनी ही चाहिए।

हिन्दीमें अभीतक जितने अंगरेजी उपन्यासोंके अनुवाद हुए हैं उनमें अधिकांशकी शोभा अंगरेजी साहित्यमें हो तो भले ही हो, पर हिन्दीमें तो उनकी जरूरत है ही नहीं। जो दो चार अच्छे ग्रन्थोंके अनुवाद हुए हैं उनके भी अनुवादकोंने अपनी योग्यताका अच्छा परिचय नहीं दिया। यदि ऐसी पुस्तकोंका प्रचार है तो उससे यही सूचित होता है कि अभी समाजकी रुचि परिमार्जित नहीं हुई है। हमें स्मरण है कि एक बार किसी विद्वान् लेखकने इसी लोक-रुचिके बलपर यह लिखा था कि लोकप्रियता किसी ग्रन्थकी उत्तमताकी कसौटी है। हम नहीं समझते कि हिन्दीके लेखकोंने अभी लोक-रुचिको इतना परि-

मार्जित कर दिया है कि वे अपनी लोक-प्रियताका गर्व कर सकें। अभी हिन्दीमें ऐसे लेखकोंका अभाव नहीं है जो अंगरेजी की भ्रष्ट किताबोंका अनुवाद न करते हों। उनके लेखक-पद प्राप्त करनेसे ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि अभी हिन्दीमें लोक-प्रियता सफलताका चिह्न नहीं है।

जो लोग हिन्दीमें अँगरेजी उपन्यासोंका अनुवाद कर रहे हैं उन्हें एक बार समाजकी आवश्यकता पर ध्यान देना चाहिए। अनुवादोंसे लाभ अवश्य है। उपन्यासोंके भी अनुवाद अनावश्यक नहीं हैं। अँगरेजीमें संसारके सभी श्रेष्ठ उपन्यासकारोंके ग्रन्थ विद्यमान हैं। हिन्दीके अनुवादकोंको भी केवल ऐसे ही ग्रन्थोंका अनुवाद करना चाहिए जिनसे हिन्दी-साहित्यकी सचमुच श्री-वृद्धि हो।

(३)

सभी देशोंके साहित्यमें जातीय गौरवकी रक्षाकी जाती है। सभी मनुष्योंको अपनी जातिका अभिमान होता है। यही कारण है कि अपने जातीय गौरवकी रक्षाके लिये, समय आनेपर साधारण मनुष्यभी .आत्म-त्याग कर सकता है। कभी कभी लोग जातीय अभिमानसे प्रेरित होकर प्राण तक देना स्वीकार करते हैं, पर वे अपनी जातिको किसी प्रकार अपमानित होते नहीं देख सकते हैं। अँगरेज़ीके एक कविने एक छोटी सी कहानी लिखी है। उसमें एक अँगरेज़ सैनिकका जातीय अभिमान प्रदर्शित हुआ है। उस कहानीके विषयमें कहा गया है कि वह

एक सच्ची घटनाके आधारपर लिखी गई है। कहानीका सारांश है यह कि एक बार चीनमें एक अंगरेज़ तीन सिक्खोंके साथ कहीं गुल गपाड़ा करता हुआ पकड़ा गया। जब वे चारों किसी चीनी अफ़सरके सामने लाये गये तब उस अफ़सरने कहा—तुम लोग मुझे झुक कर सलाम करो, नहीं तो मार डाले जाओगे। तीनों सिक्खोंने सलाम कर अपनी प्राण रक्षा की। पर उस अँगरेज़ने स्वीकार नहीं किया। अन्तमें वह मार डाला गया। इसी घटनाको लेकर अँगरेज़ी कविने अँगरेज़ोंके जातीय अभिमानकी प्रशंसा की है और काले सिक्खोंकी कायरताकी ओर इशारा किया है। सिक्ख-जातिके इतिहासमें ऐसी घटनाओंका अभाव नहीं है जिनमें सिक्खोंने सहर्ष प्राण त्याग दिये हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि सिक्ख-जाति प्राण देना नहीं जानती। पर जिनका हृदय क्षुद्र होता है वे जातीय अभिमानके कारण दूसरोंमें गुण देख ही नहीं सकते। ऐसे लोगोंकी रचनाओंमें विदेशी जातियोंका घृणास्पद चित्र अङ्कित रहता है। साहित्यमें धार्मिक असहिष्णुताकी भी अभिव्यक्ति होती है। शेक्सपियरके समान श्रेष्ठ कवि भी इस दोषसे बचे नहीं हैं। शायलाकको उन्होंने इतना लोभी बनाया है कि वह अपनी एकमात्र कन्याका मृत शरीर देखना चाहता था जिससे वह अपना रुपया पा सके। सर वाल्टर स्काटने अपने आइवनहो नामक उपन्यासमें भी एक यहूदीका चित्र अङ्कित किया है। यद्यपि उसमें धन-लिप्सा अत्यधिक थी तो भी वह पितृ-स्नेहसे शून्य

नहीं था। अँगरेजी साहित्यमें भारतीयोंके प्रति घृणाव्यञ्जक-भाव विद्यमान हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्यमें भी विदेशियोंके प्रति घृणा प्रदर्शित की जाती है।

हिन्दीके उपन्यासोंमें अकबरकी चरित्र-हीनताकी कथायें मिलती हैं। इसका सबसे बड़ा कारण टाड साहबका राजस्थानका इतिहास है। परन्तु सिर्फ अकबर ही चरित्रहीन दर्शित नहीं किये गये हैं, औरङ्गजेब भी कामुक और विलासी बनाये गये हैं। जिस प्रकार क्रोधके लिये दुर्वासा ऋषि प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार अपनी क्रूरताके लिये औरङ्गजेब। ये तो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। कुछ समय पहले जो सामाजिक उपन्यास निकले हैं उनमें शायद ही कोई सच्चरित्र मुसलमान हो। हिन्दू-ललनाओंकी सतीत्व रक्षाके लिये हिन्दी-लेखक जितने सावधान थे उतने मुसलमान स्त्रियोंके विषयमें नहीं थे। आजकल जो छोटी छोटी कहानियाँ प्रकाशित होती हैं उनमें अवश्य सच्चरित्र मुसलमानोंका अभाव नहीं है। परन्तु हिन्दीमें कदाचित् अभी तक एक भी ऐसा उपन्यास प्रकाशित नहीं हुआ जिसमें किसी अंगरेजका आदर्श चरित्र दिखलाया गया हो। यदि कभी किसी लेखककी इच्छा अङ्गरेजी पढ़े-लिखे भारतीयका चरित्रभ्रष्ट करनेकी हुई तो वह एक अंग्रेज महिलाकी कल्पना कर लेता है। धार्मिक विद्वेषके उदाहरण भी हिन्दी-साहित्यमें कम नहीं हैं। इसके सिवा अशिक्षा अथवा कुशिक्षाके परिणाम भी बुरी तरहसे दिखाये जाते हैं और इनके प्रशंसकोंका भी अभाव

नहीं है। इनमेंसे कोई-कोई अपनी प्रशंसामें देश और कालकी दुहाई देते हैं। परन्तु सच पूछो तो इन रचनाओंसे लेखकोंकी विकार-ग्रस्त कल्पनाका आभास मिलता है। इनसे शिक्षा तो मिलती नहीं, मिथ्या ज्ञानका प्रचार होता है। इससे केवल द्वेष-भावकी वृद्धि होती है।

उपन्यास चाहे ऐतिहासिक हों अथवा सामाजिक, पौराणिक हों अथवा राजनैतिक, उनमें कल्पनाकी प्रधानता रहती है। ऐतिहासिक अथवा पौराणिक व्यक्ति लेखककी कल्पनामें अपना यथार्थ स्वरूप नहीं रख सकते। अतएव यदि उनके चरित्र-चित्रणमें कहीं दोष है तो वह लेखककी कल्पनाका दोष है। यदि लेखकको अपने उत्तरदायित्वका पूरा ज्ञान है तो वह अपने उपन्यासके प्रत्येक पात्रके जीवनकी समीक्षा करेगा। उसे स्मरण रखना चाहिये कि उसके पात्र मनुष्य हैं। वे न तो देवता हैं और न पिशाच। यदि उनका चरित्र दैव-तुल्य अथवा पिशाच-तुल्य है तो उसे बतलाना होगा कि वह किस स्थितिको अतिक्रमणकर उस अवस्थाको पहुँचा है। लेखकको स्मरण रखना चाहिये कि गोपाल अथवा हेनरी सिर्फ हिन्दू या अँगरेज़ नहीं हैं, वे मनुष्य भी हैं। शायलाककी तरह वे भी कह सकते हैं—'हमें काटोगे तो हमें भी दुःख होगा। हँसाओगे तो हम भी हंसेंगे। हम भी इच्छा करते हैं, उठते हैं, गिरते हैं। हममें भी गुण और अवगुण हैं। यदि हम बुरे हैं तो किसी कारणसे बुरे हैं। हे लेखक, तुम हमारे भाग्य-विधाता बने हो, पर याद रक्खो

कि यदि तुम हमारी स्थितिमें रहो तो तुम भी बुरे हो सकते हो। अतएव तुम्हें हमारे साथ सहानुभूति रखनी चाहिये। हम जानना चाहते हैं कि हिन्दीके कितने औपन्यासिक अपने कल्पित पात्रों को मनुष्य समझते हैं, उन्हें सिर्फ़ कल्पनाकी सृष्टि नहीं समझते।

हिन्दीके नाटकोंके विषयमें पण्डित कामताप्रसादजी गुरुने एक प्रश्न उठाया था। वह था नाटकीय पात्रोंकी भाषा। हिन्दी नाटकोंके विदेशी पात्र एक अद्भुत भाषामें बातचीत करते हैं। कदाचित् लेखक अपने नाटकोंमें स्वाभाविकता लानेके लिये ऐसा करते हों। यदि स्वाभाविकताका मतलब यह है कि पात्र जो भाषा संसारमें बोलते हैं या बोलते थे उसी भाषा-का उपयोग रङ्गभूमिमें करें तो लेखक राम, सीता, राधा और कृष्णसे हिन्दी-भाषामें बातचीत क्यों कराते हैं। हम नाटकोंमें कितनी बातोंको लेखकके कथन-मात्र पर मान लेते हैं। हम यह भी विश्वास कर सकते हैं कि एक बङ्गाली शुद्ध हिन्दी बोल सकता है। तब ऊटपटाङ्ग भाषामें किसीको बातचीत कराने से क्या लाभ? क्या इसीसे हास्य-रसका स्रोत फूट पड़ता है? हमारी समझमें तो इससे केवल पात्रका चरित्र उपहास-जनक हो जाता है। यदि अँगरेजी साहित्यमें बाबू इंग्लिशको स्थान मिलता है तो वह केवल बाबुओंकी दिल्लगी उड़ानेके लिये। क्या इससे अनुदारता सूचित नहीं होती?

साहित्यमें जातीय अभिमानको जाग्रत रखनेके लिये हम अपने जातीय गौरवका यशोगान कर सकते हैं। परन्तु हमें

मिथ्या गर्व नहीं करना चाहिए। हमें हिन्दू-ललनाओंके सतीत्व-का गर्व है। परन्तु सामाजिक कुसंस्कारके कारण यदि उनके चरित्रमें कुछ दोष आ गये हैं तो उनकी ओरसे हमें अपनी आँख बन्द नहीं कर लेनी चाहिए। हमें अपने गुण-दोषोंकी परीक्षा करनी चाहिए। इसके साथ ही हमें विदेशीके भी गुण-दोषपर दृष्टि डालनी चाहिए। एक विकृत समाजकी कल्पना कर हमें अपने हृदयको दूषित नहीं करना चाहिए।

कहा जाता है कि सत्यका ही रूप स्पष्ट करनेके लिये साहित्य की सृष्टि होती है। काव्य, विज्ञान, इतिहास तथा दर्शन-शास्त्र सत्यकी ही खोजमें लगे रहते हैं। यह सच है कि भिन्न-भिन्न शास्त्र भिन्न-भिन्न पथोंका अवलम्बन करते हैं। यही कारण है कि इन शास्त्रोंके कार्य-क्षेत्रोंमें भिन्नता रहती है। काव्यमें कभी-कभी इतिहासके विरुद्ध बातें पाई जाती हैं। परन्तु इसका कारण उद्देश्यकी भिन्नता है। ऐतिहासिक तथ्यकी ओर कवि भले ही ध्यान न दे क्योंकि वह सर्वकालीन सत्यकी खोज करता है, परन्तु वह अपने काव्यमें मिथ्याको आश्रय नहीं देगा। जो लोग उपन्यास तथा आख्यायिकाओंको कल्पना-प्रसूत समझकर मिथ्या मान लेते हैं वे भूलमें हैं। उपन्यासमें कवि अवश्य एक कल्पित समाजका चित्र खींचता है, परन्तु उस चित्रकी सभी बातें ऐसी होती हैं कि वे मनुष्य-मात्रमें घट सकती हैं। अतएव वह मिथ्या नहीं। सहस्ररजनीचरित्रके समान तूल-तबील किस्सोंमें अलौ-किक और अतिरञ्जित बातोंका जमघट रहता है। परन्तु उनके

भी भीतर हम मनुष्यत्वका सच्चा स्वरूप देख सकते हैं। विज्ञान इतिहास नहीं। विज्ञानमें मनुष्य-समाजका वर्णन नहीं रहता, उसमें प्राकृतिक अनन्त सत्योंका दिग्दर्शन कराया जाता है अतएव यदि कोई विज्ञानमें ऐतिहासिक तत्त्वोंका अभाव देखकर उन्हें मिथ्या कह बैठे तो उसकी बात उपेक्षणीय ही होगी। हमारे कहनेका मतलब यह है कि यदि हम किसीकी कृतिमें सत्यका स्वरूप देखना चाहें तो हमें उस ग्रन्थके ध्येयका अनुगमन करना चाहिए।

प्रायः उपन्यासोंमें सत्यका बहिष्कार किया जाता है। औपन्यासिक घटनायें कल्पित अवश्य होती हैं, परन्तु वे प्राकृतिक नियमोंका व्यतिक्रमण नहीं कर जातीं। हिन्दीके सामाजिक उपन्यासोंमें मनुष्यके मनुष्यत्वका विकास प्रदर्शित नहीं किया जाता। उपन्यास-लेखक अपनी इच्छाके अनुकूल ही अपने पात्रोंको कठपुतलियोंके समान नचाया करते हैं कि पाठक चुपचाप उनके पात्रोंका नृत्यकौशल देखा करें। इससे उपन्यासमें मिथ्याको प्रश्रय मिलता है। हिन्दी-उपन्यासोंके पात्र सह्य और असह्य सभी प्रकारके कष्ट सह सकते हैं। संसारमें सज्जनोंपर विधाताकी सदैव अनुकूल दृष्टि नहीं रहती। पर इन पात्रोंके भाग्य-विधाता उनकी स्थितिको अनुकूल ही कर देते हैं। यदि कोई उपन्यास दुःखान्त हुआ है तो उसका कारण स्थितिकी प्रतिकूलता नहीं, किन्तु पात्रोंका दुर्भाग्य समझना चाहिये। स्वर्गीय बाबू देवकीनन्दनके समान कितने ही लोग अपने एक ही उप-

न्यासको सुखान्त और दुःखान्त कर डालते हैं ! आपका कहना भी था कि जो दुखान्तके प्रेमी हैं वे ग्रन्थके अन्तिम दो पृष्ठ फाड़ डालें। सुखान्त दुःखांत हो जायगा। विधाताके विधानका फैसला दो ही पृष्ठोंमें कर दिया गया। हिंदू-मात्र पूर्व जन्मपर विश्वास करते हैं। उनका ख़याल है कि विधाता निरङ्कुश नहीं है, मनुष्य अपने ही कृत्योंका फल भोगता है। पर हिंदीके उपन्यासकार इसके कायल नहीं। एक ही कृत्यके लिये वे चाहें तो किसीको स्वर्ग दे सकते हैं। या नरक मानव-स्वभावकी गरिमाका ज़रा भी ख़याल न रख, किसीके चरित्रको कालुष्यपूर्ण बताकर उसपर पूरा अत्याचार किया जाता है। चरित्रका उत्थान और पतन बिलकुल साधारण बात है। यही हिंदीके उपन्यासोंका मिथ्या अंश है।

हिंदीमें अभी ऐतिहासिक उपन्यास ग्रंथोंका एक प्रकारसे अभाव ही है। जो दो-चार ग्रंथ हैं उनमें लेखक अपनी धारणा और संस्कारके कारण सत्यका अनुसरण नहीं कर सके हैं। इतिहासके पात्रोंके चरित्र-चित्रणमें लेखकको ज़रा भी पक्षपात नहीं करना चाहिये। जिनका हृदय बिलकुल स्वच्छ रहेगा वही इतिहासका स्वच्छ स्वरूप देख सकेंगे। ऐसे ही ग्रन्थोंमें सत्यका बहिष्कार किया जाता है।

(४)

प्रेमचन्दके उपन्यास हिन्दी साहित्यकी स्थायी सम्पत्ति हैं। पर उपन्यासोंकी अपेक्षा उनकी आख्यायिकाओंका प्रभाव हिन्दीके लेखकोंपर अधिक पड़ा। हिन्दीमें अब कितने ही आख्यायिका

लेखक हैं। पर उपन्यास दो ही चार मिलते हैं। उपन्यासके लिये ऊंची कल्पना-शक्ति चाहिये। हिन्दीमें अभीतक उपन्यासों की अपेक्षा आख्यायिकाओंकी ही प्रचार-वृद्धि हो रही है। आख्यायिकाओंकी लोक-प्रियताका कारण यह है कि उनमें थोड़ेमें ही उपन्यासका विशेषत्व आ जाता है। उपन्यास और आख्यायिका, दोनोंमें मनुष्य जीवनका चरित्र रहता है, उसके सुख-दुखकी बातें रहती हैं। भेद यही है कि उपन्यासमें चरित्रके विकासकी ओर लेखकका विशेष ध्यान रहता है और आख्यायिकामें केवल एक विशेष भावकी अभिव्यक्ति, एक विशेष स्थितिके दिग्दर्शनकी ओर उसका ध्यान रहता है। उपन्यासोंमें जो घटनायें आती हैं, भावोंका जो उत्थान-पतन दिखाया जाता है, उनका एक मात्र लक्ष्य यह है कि व्यक्तिके चरित्रकी दुर्बलता और महत्ता प्रकट हो जाय। आख्यायिकाओंमें उनके लिये स्थान ही नहीं है। उनमें केवल एक भावको ही परिस्फुट करनेके लिये लेखक दो एक घटनाओंका वर्णन करता है। आख्यायिकाके आरम्भसे अन्त तक उसी एक भावकी प्रधानता रहती है। परन्तु अच्छे लेखकोंमें यही भाव गुप्त रहता है। सारी कहानी पढ़ लेनेके बाद वह भाव सहसा उदित हो जाता है। प्रेमचन्दजीकी अधिकांश कहानियोंमें घटना और भावका ऐसा उचित समावेश किया गया है कि यह नहीं जान पड़ता कि घटना प्रधान है या भाव। पञ्च-परमेश्वर, ईश्वरीय न्याय अथवा बड़े घरकी बेटीमें भावके साथ घटनाका अपूर्व तारतम्य है। हिन्दीके दो एक लेखकोंने

प्रेमचन्दजीकी भाषा और शैलीका तो अनुसरण किया, परन्तु आज तक किसीने उनके समान एक भी कहानी नहीं लिखी।

हिन्दीके दूसरे प्रसिद्ध आख्यायिका लेखक हैं श्रीयुत सुदर्शन जी। उनकी कहानियोंके दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। सुदर्शन जीमें जितना घटना वैचित्र्य है उतना भाव वैचित्र्य नहीं है। उनकी घटनायें स्वयं इतनी रोचक होती हैं, कि कोई उन्हें कैसी ही भाषामें कहे, सुननेवाले अवश्य आकृष्ट हो जावेंगे। घटनाकी असाधारणता चित्तको हठात् आकृष्ट कर लेगी। सुदर्शनजीकी यह सृजन-शक्ति विलक्षण है। परन्तु पंच-परमेश्वरके समान कहानियोंमें घटनाकी साधारणता ही चित्ताकर्षक है। कौशिकजी भी एक प्रसिद्ध आख्यायिका लेखक हैं। हिन्दीमें अच्छी कहानियोंका ऐसा कोई भी संग्रह नहीं प्रकाशित किया जा सकता जिसमें उनकी 'ताई' न सम्मिलित हो। हिन्दीके एक और प्रसिद्ध आख्यायिका लेखक हैं श्रीयुत जैनेन्द्र कुमारजी। उनकी सबसे अच्छी कहानी कौन है, यह कहना कठिन है। यह संभव नहीं कि कहानियां बिलकुल निरुद्देश्य हों, क्योंकि कोई भी लेखक अपने समाजकी परिस्थिति को छोड़ नहीं सकता। यदि कोई चाहे तो प्रेमचन्दजीकी कहानियोंसे हिन्दू समाजकी कितनी ही कुप्रथाओंकी हानि दिखलानेके लिये दृष्टान्त ले सकता है। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि सास-बहूके झगड़े या बहु विवाहके दुष्परिणाम दिखलानेके उद्देश्यसे ही ये कहानियां लिखी गई हैं। लेखक आख्या-

यिकामें बाह्यजगत्को लेकर व्यस्त नहीं रहता। वह तो अपनी अनुभूतिसे अन्तर्जगत्का दृश्य देखता है। परन्तु बिलकुल निरुद्देश्य कहानियां लिखी हैं जैनेन्द्र कुमारजीने। उनमें न समाजकी समस्या है और न राजनैतिक क्रान्ति। मनुष्योंके हृदयमें प्रचण्ड भावोंका जो उत्थान-पतन होता है उसीको उन्होंने अङ्कित किया है। उनकी कहानियोंमें घटनाओंकी कोई प्रधानता नहीं है।

(५)

कल्पना—प्रसूत साहित्यके लिये विद्वताकी कम, अनुभूति और कल्पनाकी अधिक आवश्यकता है। ऐसी रचनाओंमें लेखकों-की विवेचना-शक्ति प्रकट नहीं होती, उनकी सृजनशक्ति प्रकट होती है। जिनमें प्रतिभा है वे मौलिक चरित्रोंकी सृष्टि करते हैं। ये चरित्र कल्पनाकी सृष्टि अवश्य हैं, परन्तु मानसिक जगत्पर उनका उतना ही प्रभाव पड़ता है जितना वहिर्जगत्पर यथार्थ व्यक्तियोंका। इनका प्रभाव स्थायी भी होता है। हिंदू-समाजपर जिन चरित्रोंका प्रभाव सबसे अधिक पड़ा है उनके ऐतिहासिक अस्तित्वके सम्बन्धमें किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। सावित्री और दमयन्ती, शकुन्तला और पार्वतीके अस्तित्वमें किसी भी हिंदूको संदेह नहीं हो सकता है। यह सच है कि हिंदू-साहित्यके ये चरित्र एकमात्र कल्पनाकी सृष्टि नहीं है। परंतु साहित्यमें इनका आविर्भाव कवियोंने ही किया है। इनके चरित्रकी महिमाका परिचय हमें कवियोंने ही कराया है। वाल्मीकि हों या होमर, कालिदास हों या बंकिमचन्द्र चरित्रोंकी

सृष्टिमें ही उनका विशेष कर्तृत्व प्रकट होता है। आधुनिक हिंदी-साहित्यमें प्रेमचन्दजीने ही सुमन और सूरदासके समान कुछ ऐसे चरित्रोंकी सृष्टि की है जिन्हें हिंदी-भाषा-भाषी सहसा नहीं भूलेंगे। अन्य लेखकोंका ध्यान चरित्रोंकी अपेक्षा घटना-ओंकी सृष्टि की ओर अधिक है। ऐसे लेखकोंकी रचनाओंमें कौतुकावह घटनाओंका जितना ही अधिक समावेश होगा, उतनी ही अधिक चित्ताकर्षक वे होंगी।

चरित्रोंकी सृष्टिके पहले हमें भिन्न-भिन्न लोगोंके व्यक्तित्व-का अध्ययन करना चाहिये। उनकी चाल-ढाल बात-चीत, रंग-ढंग, रुचि-अवरुचि आदिमें उनका व्यक्तित्व छिपा रहता है। पर किसी विशेष परिस्थितिमें उनकी कुछ ऐसी विशिष्ट प्रकारकी भावना प्रकट हो जाती है, जिससे उनका व्यक्तित्व झलक जाता है। सरदार मोहनसिंह एम० ए० की कहानियोंका एक छोटा सा संग्रह प्रकाशित हो चुका है। हिंदीके प्रसिद्ध साप्ताहिक-पत्र प्रतापके सम्पादकने उनकी बड़ी प्रशंसाकी है। इस संग्रहका नाम है सदा गुलाब। उर्दूके एक प्रसिद्ध लेखक, अफसर मेरठीजी, की रायमें ये कहानियां कई बातोंमें प्रेमचन्द और सुदर्शनजीकी कहानियोंसे बेहतर हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सरदार साहबके लिखनेका ढंग अपूर्व है। जो बातें अधिकांश आख्यायिका लेखक अपने पाठकोंको कल्पना द्वारा समझ लेनेके लिये छोड़ देते हैं, उनको सरदार साहब खूब अच्छी तरह लिखते हैं। मुन्नूके जन्मसे लेकर मृत्युतककी कोई भी बात आपने नहीं

छोड़ी। फिर भी स्वयं मुन्न हम लोगोंके लिये अपरिचित ही बना रहता है। उसे जाननेके लिये हमें अपनी कल्पनाका आश्रय लेना पड़ता है। जिस प्रकार किसी व्यक्तिका जीवन-चरित्र पढ़-लेनेके बाद हम उसके जीवनकी मुख्य मुख्य सारी बातें जान लेनेपर भी स्वयं उस व्यक्तिको नहीं जान पाते उसी प्रकार सरदार साहबकी कहानियोंके नायकोंकी सभी बातें जान लेनेपर भी उसका व्यक्तित्व छिपाही रहता है। इसमें संदेह नहीं कि आख्यायिका-लेखकोंके साथ पाठकों का एक प्रकारका समझौता-सा हो जाता है। कुछ तो लेखक समझाता है और कुछ पाठक अपने आप समझ लेता है। कोई भी पाठक लेखकसे यह पूछने नहीं जाता कि तब फिर क्या हुआ। उसे जो समझना होता है अपनी कल्पनासे स्वयं समझ लेता है। परन्तु सरदार साहब सब कुछ कहकर भी नायक और नायिकाको ऐसे ढंगसे छिपा लेते हैं कि पाठकों को उनके संबंधमें यही सोचना पड़ता है कि उन्होंने सब कुछ तो किया, पर वे थे कैसे।

सरदार साहबकी रचनाओंमें व्यक्तित्वको झलका देने वाले विशिष्ट भावोंकी सृष्टि न होने पर भी चरित्रोंकी सृष्टि हुई है। ये चरित्र बिलकुल साधारण मनुष्योंके हैं जिन्हें हम प्रतिदिन देखकर भी जाननेकी इच्छा नहीं करते। जान रामदासके समान डाक्टर या रामू और कन्नोके समान बेवकूफ़ और धूर्त संसारमें असाधारण व्यक्ति नहीं हैं और न इन्हें देखनेके लिये हम लोग उद्ग्रीवही होते हैं। यह सच है कि ऐसे मनुष्योंके जीवनमें भी

कौतुकावह घटनाएं होती हैं और वे भिन्न भिन्न प्रवृत्तियोंके वशीभूत होकर काम भी करते हैं। परन्तु ऐसी घटनाएं और ऐसी प्रवृत्तियां उनके जीवनमें कचित् होती है, यदि उन्हींसे हम उनके जीवनका मर्म समझना चाहें तो हम भूल करेंगे। वे साधारण जीवनकी असाधारण अवस्थायें हैं, चाहे वे पहलवानके जीवनमें हों या डाक्टरके या मास्टरके। प्रेमचन्दजी और सुदर्शनजीके चरित्रोंमें चरित्र-गत विशेषता बतलाने वाली जो घटनाएं आती हैं उनसे उनके जीवनका घनिष्ट संबंध रहता है। वे साधारण जीवनकी, साधारण अवस्थाकी घटनाएं हैं। परन्तु वे ऐसी घटनाएं होती हैं कि उनसे उनकी जीवनकी महत्ता प्रत्यक्ष हो जाती है। मुन्नू पहलवान लोगों की रक्षाके लिये लड़कर मर गये और लोगोंके पूजास्पद हो गये। पर यदि वह मुसलमान गुंडोंके साथ न लड़कर स्वयं बाजार लूटने लग जाता तो भी हमें अचरज न होता। कौनसी अन्तःशक्ति उसकी वाह्यशक्तिको परिचालित करती थी, यह सारी कहानी पढ़ लेने पर भी पाठक नहीं जान सकेंगे। इसके लिये उन्हें कल्पनाही करनी पड़ेगी। परन्तु यही बात सुदर्शन और प्रेमचन्दजीकी कहानियोंके चरित्रोंके सम्बन्धमें नहीं कही जा सकती।

(६)

प्राचीन युगके साहित्यमें जैसे चरित्रोंकी सृष्टि होती थी वैसे चरित्रोंकी सृष्टि आधुनिक साहित्यमें नहीं होती। प्राचीन साहित्य में महत् चरित्रोंकी ही अवतारणा होती थी। ये चरित्र मनुष्योंमें

भक्ति विस्मय और आतंक उत्पन्न करते थे। वज्रसे भी कठोर और कुसुमसे भी कोमल होनेके कारण ये लोकोत्तर चरित्र साधारण मनुष्योंके लिये बोध-गम्य नहीं थे। उनके सुख और दुख, आपत्ति और विपत्ति, धैर्य और संयम, शक्ति और क्षमा, सभी असाधारण थे। अपनी विराट् योग्यताके कारण ये जन समाजसे बिलकुल पृथक् थे। आधुनिक युग जन-समाजमें किसी को भी छोड़ना नहीं चाहता। वह मनुष्योंकी असामानता दूर कर उनमें भ्रातृत्व स्थापित करना चाहता है। इसीसे आधुनिक साहित्यके चरित्रोंसे भक्तिका उद्रेक नहीं होता। उनसे सहानुभूतिका भाव प्रकट होता है।

यही भेद प्राचीन साहित्यके रचयिताओं और आधुनिक साहित्यके लेखकोंमें भी है। प्राचीन युगके रचयिता भवसागरसे रत्न निकालकर रखते थे। ऐसे रत्न निकालनेकी क्षमता सभीमें नहीं होती, और फिर उन रत्नोंसे बड़े बड़े राज-प्रासादोंकी ही श्री वृद्धि हो सकती है। उन रत्नोंकी ज्योति भी अलौकिक होती है। कालका उनपर प्रभाव नहीं पड़ता। आधुनिक युगके लेखकों में ऐसी क्षमता किसी किसीमें भले ही हो अधिकांश लोग तो पत्थरों और ईटोंका ही संचय करते हैं। ऐसे भी हैं जो केवल मिट्टीका ही ढेर छोड़ जाते हैं। ऐसे लोगोंकी रचनायें बहु-काल-व्यापी नहीं होती हैं। अधिकांश तो प्रतिदिन बनती हैं और नष्ट होती हैं। परन्तु सर्व-साधारणका काम उन्हींसे चलता है। मतलब यह है कि आधुनिक युगके साहित्यमें विशेष शक्तिशाली

और प्रतिभावान् लेखकोंका प्राधान्य नहीं है। आजकल थोड़ी शक्तिवाले लेखकोंसे ही काम चलता है। तुलसीदास और बिहारी लाल भवसागरमें अपना प्रतिभा-जाल फेंककर भाव रत्नोंका संग्रह कर सकते हैं, परन्तु किसी दैनिक या मासिक-पत्रके लिये समाचारों या लेखोंका संग्रह शायद उनसे न होता।

आधुनिक युग महत्ताके लिये प्रयत्न नहीं करता, वह विस्तार के लिये कोशिश कर रहा है। आधुनिक साहित्य हिमालयकी तरह भवभूतलको भेद कर आकाशकी ओर अग्रसर नहीं हो रहा है। वह घासकी तरह सारी पृथ्वी पर फैलकर उसे स्निग्ध बनाना चाहता है। वह जीवनका उच्चतम आदर्श नहीं बतलाता है, वह लोगोंमें प्रेम और सहानुभूतिका भाव उत्पन्न कर उनके दैनिक जोवनको सुखमय बनाना चाहता है। आधुनिक साहित्य अल्प संख्यक विद्वानों और रसिकोंके लिये नहीं है, वह बहु-संख्यक सर्व-साधारणके लिये है। इसीसे आजकल अधिकांश लेखक ग्रन्थ-कार नहीं, मासिक-पत्रोंके पृष्ठ-पोषक हैं, और मासिक पत्र चिरन्तन नहीं, केवल एक महीनेके लिये हैं।

सेवाके भावसे प्रेरित होकर जो लोग काम करते हैं, उन्हें न तो यशका लोभ होता है और न निन्दाका भय। जिसे वे देशके लिये श्रेयस्कर समझते हैं उसे करने, कहने या लिखनेमें उन्हें संकोच नहीं होता। यदि कोई उनकी बात न सुने तो भी वे क्षुब्ध नहीं होंगे। यदि कोई उनका अपमान करे तो भी उसे वे चुपचाप सह लेंगे। अपमानके भयसे वे कर्तव्य-च्युत नहीं होंगे।

यश और प्रतिष्ठाकी लालसासे वे अपना काम छोड़कर दूसरा काम नहीं करने लगेंगे। हिन्दी साहित्यकी जो कुछ उन्नति हुई है वह साहित्यके ऐसेही सेवकों द्वारा हुई है। हिन्दी साहित्यके उन्नायकोंमें न तो कोई देशके वाग्मी नेता थे और न कोई विश्व-विख्यात विद्वान ही थे। उनमें अधिकांशकी साधारण स्थिति थी। विशेष विद्वता या प्रतिभा भी उनमें नहीं थी। तो भी उन्हीं के द्वारा साहित्यकी गौरव वृद्धि हुई है। जो देशके नेता या समाजके कर्णाधार कहे जाते हैं या जिनके पांडित्यकी प्रशंसा योरप और अमेरिकाके विद्वत्समाजमें हो रही है, उनसे हिन्दी-साहित्य को अभीतक कोई अलभ्य रत्न प्राप्त नहीं हुआ है। यह सच है कि हिन्दीके अधिकांश लेखकोंकी रचनायें मौलिक नहीं होती हैं। यह भी सच है कि हिन्दीमें अभीतक अनुवादों और छायानुवादोंका आधिक्य है। परन्तु हिन्दी-भाषा-भाषियोंकी ज्ञान-वृद्धि उन्हींसे हो रही है। विद्वज्जनोंके लिये ये रचनायें उपेक्षणीय भले ही हों, परन्तु सर्वसाधारणका कल्याण उन्हींसे हो रहा है। जिनकी ज्ञान-गरिमा और विद्वता सर्वसाधारणके लिये अलभ्य है, ऐसे विद्वानों को हम दूरसे प्रणाम अवश्य करेंगे, परन्तु आश्रय हम उन्हीं लोगोंका लेंगे जिनसे साहित्यका सचमुच कुछ उपकार हो रहा है।

हिन्दीके समान अनुन्नत साहित्यमें ऐसे थोड़े ही लेखक हैं जिनकी रचनायें महत्व पूर्ण कहीं जा सकती हैं। अधिकांश लेखकोंकी रचनाओंमें कुछ विशेषता नहीं रहती। इसमें कोई

सन्देह नहीं कि जिन लोगोंने साहित्यको अपनी जीविकाका एक-मात्र साधन बना लिया है उनको भगवान्ने कोई विशेष प्रतिभा देकर उत्पन्न नहीं किया है। परन्तु यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि साहित्यको व्यवसाय बना लेनेसे ऐसे लोगोंको अपनी रचनाओंके लिये इतनी चिन्ता अवश्य करनी पड़ती है कि वे कुछ ऐसी हों जिनसे सर्वसाधारणका कमसे कम मनोरंजन तो हो। प्रतिभा दुर्लभ वस्तु है। परन्तु प्रतिभा न रखकर भी परिश्रम और अध्यवसायसे इतनी योग्यता अवश्य आ जाती है कि उससे मनुष्य कुछ न कुछ लिखकर अपना काम चला लेता है। लोकोपकार अथवा देशोद्धार या समाजकी उन्नति ये सब बड़ी-बड़ी बाते हैं। हिन्दीके जो पत्र या पत्रिकायें इन उच्च उद्देश्योंसे प्रेरित होकर साहित्यके क्षेत्रमें अवतीर्ण होती हैं वे स्तुत्य अवश्य है। परन्तु ऐसी रचना-शक्ति बड़ी दुर्लभ है और अभी यह रचना-शक्ति हिन्दीके पत्रों या पत्रिकाओंमें प्रकट नहीं हो रही है। अभी यदि हिन्दीके पत्र अपने पाठकोंका चित्त अपनी ओर आकृष्ट कर सकें तो यही उनके लिये कम गौरवकी बात नहीं है। हिन्दीके पाठकोंमें साहित्यके प्रति अनुराग हो जाय, उनकी कुछ ज्ञान-स्पृहा बढ़ जाय, जो जानने योग्य बातें हैं, उन्हें वे जानने लगें या जाननेकी इच्छा करने लगें तो हिन्दीके सामयिक पत्रोंका उद्देश्य पूरा हो जाय। उच्च कोटिकी रचनायें हिन्दी क्या सभी भाषाओंमें सुलभ नहीं हैं। और न सभी समय लोग उच्च कोटिकी रचनाएं पढ़ना ही चाहते हैं। यदि सचमुच

लोगोंकी यह प्रवृत्ति हो कि वे एक-मात्र उच्च कोटिका साहित्य ही पढ़ना चाहें तो सामयिक पत्रोंका प्रचारही न हो। हिन्दीके उदीयमान लेखकोंसे हमारी तो यही प्रार्थना है कि लोकोत्तर आनन्ददायिनी कवितायें या उत्क्रान्तिकारक उपन्यास लिखनेकी चेष्टा न कर ऐसी ही बातें लिखें जो उनकी कल्पनाका फल न होकर अनुभूतिका फल हो। आजकल हिन्दीके लेखकोंकी यह प्रवृत्ति हो गई है कि वे 'महत्' विषयोंपर ही लिखना चाहते हैं। अनन्त पथमें अभिसार-यात्रा न कर यदि वे क्षुद्र मानव-जीवन की क्षुद्र बातोंकी ही चर्चा करें तो कदाचित् लोगोंका उपकार नहीं तो, मनोरंजन अवश्य हो। जो लोग देश, समाज या साहित्यमें उत्क्रान्ति उत्पन्न कर देनेके लिये रचनाएं लिखते हैं उन्हें समझ रखना चाहिये कि यदि उनकी रचनाओंसे उनका अभीष्ट सिद्ध हो जाय तो पल-पलमें इतनी उत्क्रान्तियां होने लगें कि उन उत्क्रान्तियोंसे जीवन ही असह्य हो जाय। ऐसे उत्क्रान्ति-उत्पादक यदि अपनी रचनाओंको गुप्त ही रक्खें तो देश और समाजका अधिक कल्याण है। यही बात देश और समाजकी समस्याओंको सुलझानेवाली रचनाओंके लिये कही जा सकती है। भारतवर्षकी दुरवस्था अवश्य है। उसमें कितने ही नैतिक और सामाजिक दोष हैं। उन दोषोंके प्रतीकारके लिये और उस दुरवस्थाको दूर करनेके लिये सदुपायोंकी योजना भी होनी चाहिये। परन्तु देश और समाजके लिये चिन्तित होना एक बात है और उसके लिये कार्यक्रम निर्दिष्ट कर देना या पथ दिखला देना दूसरी बात है।

जिन प्रश्नोंपर देश या जातिका जीवनमरण निर्भर है, उन्हें उन्हींपर छोड़ देना चाहिये जिनपर उसका उत्तरदायित्व है। यदि सभी लोग चिकित्सक बनकर रोगीकी प्राणरक्षाके लिये अपने-अपने उपायोंका आश्रय लेने लगें तो चिकित्सकोंको अपने-अपने उपायोंकी सार्थकता या निरर्थकताका अनुभव तो भले ही हो जाय परन्तु रोगीके प्राण नहीं बचेंगे। इसीलिये उचित यही है कि मरणासन्न रोगीका भार किसी सुयोग्य चिकित्सकपर छोड़कर और लोग अपने दैनिक जीवनकी बातोंकी भी चिन्ता करें। हिन्दीके अधिकांश लेखक समाज और देशकी समस्याओं को लेकर कितनी ही कथाओंकी रचना कर डालते हैं। उनकी रचनाओंमें बाल-विधवाओंकी दुर्दशाका जितना वर्णन हुआ है, जमीदारों और पुलिस-कर्मचारियों या राजाओंके उत्पीड़नों और अन्यायोंकी जितनी चर्चा हुई है, व्यभिचार, अनाचार और पापके जितने दृश्य दिखलाये गये हैं, यदि उनमेंसे किसी-भी एक घटनाका लेखकों या पाठकोंको अनुभव करना पड़े तो वे शायद संसारको छोड़कर बनका ही आश्रय लें। युवकोंके लिये एक बड़ी समस्या नारीके प्रेम की भी होती है। इसीलिये प्रेमकी जो लीलाएं हम इन रचनाओंमें देखते हैं उनसे यही जान पड़ता है कि इन प्रेमियोंके लिये जीवनकी और कोई बात थी ही नहीं, न उन्हें भूख थी न प्यास, और न उन्हें अपने जीवन निर्वाहकी कोई चिन्ता थी।

जीवन की किसीभी एक बातको अन्य बातोंसे अलग करके

देखनेका फल यही होता है। हिन्दीके अधिकांश आख्यायिका-लेखकोंमें सबसे बड़ा दोष यही है। वे लोग किसी एक निश्चित उद्देश्यको लेकर उसमें इतने लीन हो जाते हैं कि जीवनकी दूसरी बातोंकी ओर देखते ही नहीं। मनुष्य सब कुछ करता है, प्रेम भी करता है, ईर्ष्या भी करता है, क्रोधके वशीभूत भी होता है, परन्तु यदि वह बिलकुल विक्षिप्त नहीं हुआ है तो कैसा भी प्रचण्ड भाव क्यों न हो वह उसमें पड़कर अपने जीवनके आवश्यक कामोंको छोड़ न देगा। सच पूछिये तो मनुष्योंमें सहसा किसी एक भावका प्राबल्य होता ही नहीं। कितने ही भिन्न-भिन्न भावोंके सम्मिश्रणसे कोई एक विशेष भाव उद्दाम होता है। बिलकुल छोटी-छोटी घटनाओंसे ये सब भाव बढ़ते और घटते रहते हैं। इन सब छोटी घटनाओंको बिना व्यक्त किये हुए जीवनकी कोई भी बात अच्छी तरह नहीं समझाई जा सकती। एक उदाहरण लीजिये। हिन्दू-समाजमें जिन लोगोंका जन्म हुआ है उनमें कुछ संस्कार ऐसे बद्धमूल हो जाते हैं जिन्हें वे बिलकुल कभी नहीं छोड़ सकते, कुछ न कुछ उनका प्रभाव बना ही रहता है। कोई कितनाही स्वाधीन चेता क्यों न हो, हिन्दू होकर और हिन्दू-समाज में रहकर वह उन संस्कारोंका सर्वथा तिरस्कार नहीं कर सकता। परन्तु जहां एक हिन्दूमें एक हिन्दूके संस्कार वर्तमान हैं वहाँ उसमें मनुष्योचित्त अन्य गुण या अवगुण भी होते हैं। यदि हम किसी हिन्दूको मनुष्योचित अन्य सब गुणोंसे हीन कर उसे केवल संस्कारोंके वशीभूत ही चित्रित करें तो वह

हमारी मिथ्या कल्पना होगी। इसी प्रकार यदि हम उसे सामाजिक संस्कारोंसे बिलकुल पृथक् कर केवल मानवीय गुणोंसे युक्त बतलावें तो वह भी हमारी विकृत कल्पना होगी। हिन्दीके एक उपन्यासकारने समाजके कुछ संस्कारोंको प्रधानता देकर यह दिखलाया है कि धोखेसे एक मुसलमानके हाथसे पानी पी लेनेके कारण एक नवबधू अपने पतिगृह पहुँचनेके पहिले ही सरायमें परित्यक्त कर दी गई और अपने पिताके घर लौट जानेपर उसे न तो पिताने अपने घर पर रक्खा और न माताने ही अपनी कन्याको आश्रय दिया। यही नहीं, पितृगृहमें उसकी यह भी परीक्षाकी गई कि कहीं उसे गर्भ तो नहीं है। यह अपमान उस बेचारीको इसीलिये सहना पड़ा, क्योंकि लेखकको यह अभीष्ट था कि छूआ-छूतके सम्बन्धमें हिन्दूके सामाजिक संस्कारोंकी निन्दाकी जाय। इसी प्रकार एन्ट्रेन्स पासकर स्त्री-स्वाधीनताकी कामना रखनेवाली एक नवयुवतीने अपने पूर्वानुरागको छोड़कर और अपने सब सामाजिक संस्कारोंको भूलकर पतिका परित्यागकर स्त्री-जातिकी उन्नतिके लिये स्वतंत्र जीविकाकी खोज में संकट इसीलिये सहा कि जिससे वह लेखकके इस विचारकी सत्यताको जान ले कि स्त्रियोंके लिये ऐसी स्वाधीनताकी कामना उनकी उन्नतिकी बाधक है। सच्ची दुर्घटनाओंसे भी किसी सिद्धान्त की निष्फलता सिद्ध नहीं होती। व्योमयानके द्वारा सैकड़ों दुर्घटना होनेपर भी और सैकड़ोंका प्राणनाश होनेपर भी किसी को यह संदेह नहीं होता कि व्योमयानके द्वारा यात्रा करना

असम्भव है। सुयोग और दुर्योग तो होते ही रहते हैं, इसीसे किसी भी सिद्धान्तकी परीक्षा नहीं हो सकती। किसी स्त्रीको स्वतंत्रताकी प्राप्तिमें कुछ दुर्घटनाओंका सामना करा देनेसे ही यहां तक कि किसी राजाकी नाक कटा देनेसे भी लेखकोंका अभीष्ट सिद्‌ध नहीं हो सकता। उचित तो यही है कि हिन्दीके लेखक किसी सिद्धान्तकी सारता या निस्सारता सिद्ध करनेके लिये घटनाओंकी कल्पना न कर ऐसे चरित्रोंकी श्रृष्टि करें जिनमें हम मनुष्यत्वका विकास देखें।

उपसंहार

हिन्दी-साहित्यकी वर्तमान स्थिति पर एक विद्वान् ने कहा था—

आधुनिक हिन्दी-साहित्यका कलेवर उतना उन्नतिशील और पुष्ट नहीं जितना बङ्गाली तथा मराठी-साहित्यका पाया जाता है। ये भाषायें हिन्दीसे कई क़दम आगे बढ़ी हुई हैं और वर्तमान हिन्दी-साहित्यमें जितने नये और उत्तम ग्रन्थ देखनेमें आते हैं वे अधिकांशमें या तो बङ्गाली तथा मराठी ग्रन्थोंके अनुवाद हैं या उनके आधारपर लिखे गये हैं। अनुवादोंकी आवश्यकता जरूर है, किन्तु इतनाही किसी भाषाके लिये गौरव और सन्तोष-का विषय कदापि नहीं हो सकता।

"हिन्दीमें जो कुछ उत्तम साहित्यके नामसे भूषित होनेके योग्य है वह सब प्राचीन है। नये साहित्यके नामपर इसमें केवल अनुवादों और छायानुवादोंकी भरमार है। हरिश्चन्द्रके बाद हिन्दी-संसारमें फिर दूसरे हरिश्चन्द्रका जन्म आजतक नहीं हुआ। माइकेल मधुसूदनके बाद द्विजेन्द्रलाल तथा रवीन्द्र-नाथका जन्म हो चुका, किन्तु प्रतीत होता है कि हिन्दीके लिये तुलसी और सूरदासका काल सदाके लिये अतीतके गर्भमें लुप्त हो गया। हिन्दी-साहित्य सेवियोंमें मुझे एक भी ऐसे सज्जनका नाम मालूम नहीं है जो कविकी पदवीको सार्थक कर सकता हो। उच्च कोटिके उपन्यास-लेखकोंका भी खेदजनक अभाव है।

नाटकके नामसे हिन्दीका अङ्ग सूना पड़ा हुआ है। इतिहास, विज्ञान तथा राजनैतिक ग्रन्थोंकी चर्चा करना ही व्यर्थ है। कदाचित् ये विषय ही हिन्दी-साहित्यको अज्ञात हैं। इस सन्ताप-जनक अभावका एक-मात्र कारण केवल इतना ही है कि हिन्दी-में प्रौढ़ लेखकोंकी कमी है। जिन लोगोंको ऊंचीसे ऊंची शिक्षा मिली है, अर्थात् जिनके विचार प्रौढ़ हैं, वे प्रायः हिन्दीसे उदा-सीन तथा विरक्तसे दिखाई देते हैं। मिथ्याभिमान तथा ना समझीके वशवर्ती होकर ऐसे लोगोंने अपनी मातृभाषाके स्थान-पर प्रायः अँगरेजीको ही आसीन कर दिया है।

इस कथनमें ज़रा भी अत्युक्ति नहीं है। हिन्दी-साहित्यके अभावोंकी ओर उसके सभी शुभचिन्तकोंका ध्यान गया है; परन्तु प्रश्न यह है कि इन अभावोंकी पूर्ति किस प्रकार हो सकती है। वर्तमान राजनैतिक आन्दोलनका एक शुभ परिणाम यह हुआ है कि अब अँगरेजीदां भारतवासी अपनी मातृभाषाका कम अनादर करने लगे हैं। परन्तु निस्स्वार्थ भावसे सेवा करनेकी ओर अभी थोड़ेही लोगोंकी प्रवृत्ति हुई है।

हिन्दीके आधुनिक साहित्यमें मौलिकताका अभाव है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि मौलिक साहित्य उत्पन्न करनेके लिये हमें साहित्यमें उपयुक्त क्षेत्र स्थापित करना होगा। ऊपर कहा गया है कि हिन्दीके लिये अब तुलसी और सूरदासका काल अतीतके गर्भमें लुप्त हो गया। सचमुच अब उनका ज़माना लौटने का नहीं। उन्हें जो करना था वे कर गये। अब हिन्दी-साहित्यके-

प्रेमी उनका उचित आदर करना ही सीखें। अस्तु यहां हम एक प्रश्नपर विचार करना चाहते हैं। वह यह कि क्या कारण है कि सभी समय तुलसी और सूरदास उत्पन्न नहीं होंगे? क्या महा-कवियोंकी उत्पत्ति साहित्यमें एक आकस्मिक घटना है, जो ईश्वरीय शक्तिपर निर्भर है? यदि यही बात हो तो चेष्टा करना व्यर्थ होगा।

यहां हम अन्य देशोंके साहित्यपर ध्यान देते हैं। हम सर्वत्र देखते हैं कि कभी तो कलाकी बड़ी उन्नति हुई है, बड़े-बड़े चित्रकार और कलाकोविद हुए हैं, और कभी कलाका सर्वथा अभाव रहा। इसका क्या कारण है? इतिहासके मर्मज्ञ विद्वानों का कथन है कि देशके समृद्धि-कालमें कलाका विकाश होता है। परन्तु इससे हमें सन्तोष नहीं होता। यदि समृद्धिसे ही कलाका सम्बन्ध है तो क्या कारण है कि देशकी समृद्धावस्थामें भी सभी समय कलाका विकास नहीं हुआ? वर्तमान युग तो योरोपके लिये समृद्धि-काल है। क्या कारण है कि अब रैम्ब्रैंट अथवा शेक्सपियर उत्पन्न नहीं होते? आजकल कला-कोबिदोंका आदर भी अधिक है, धन और कीर्ति दोनों उनके हाथमें है। तो भी अतीत युगमें जैसे कला-कोविद हो गये वैसे अब क्यों नहीं होते? हमारा यह कथन है कि जब किसी शताब्दीके पहले पचास वर्षों में सैकड़ों कवि और कलाकोविद हुए तब उसी शताब्दी के पिछले पचास वर्षोंमें क्यों न वैसे ही कवि और चित्रकार उत्पन्न हों। जब देशकी स्थितिमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ, जब

देश उन्नतिके पथपर बराबर अग्रसर रहा, तब कलाकी ही उन्नतिका व्यवधान कहांसे आ जाता है। हम तो यह कहते हैं कि पहले जैसे कवि उत्पन्न हुए पिछले समयमें भी वैसे ही कवि हुए। भेद यही है कि पूर्ववर्ती कवियोंको अपनी शक्तिको यथेष्ट विकसित करनेका अवसर मिला, किन्तु परवर्ती कवियोंकी शक्ति विकसित न हो सकी। इसका कारण क्या है ? जब कोई बाह्य कारण नहीं है तब हम यही कहेगें कि यह सर्वसाधारणकी कुरुचिका परिणाम है। जब जनता बाह्य सौन्दर्यही पर मुग्ध है तब कवि अपनी शक्तिको नायिकाके नख-शिखवर्णनमें ही लगा देगा। बिहारीकी कवितामें कौन ऐसी बात नहीं है जो कवित्व दृष्टिसे तुलसी अथवा सूरकी रचनामें विद्यमान है। बात यही है कि तत्कालीन समाजकी रुचि विकृति होनेके कारण कविका आदर्श उच्च न हो सका। अतएव सबसे पहले हमारा यह कर्तव्य है कि हम समाजकी रुचिको परिष्कृत करें। तभी मौलिक साहित्यके लिये उपयुक्त क्षेत्र भी तैयार होगा। यहां हम अनुवादोंका स्वागत करते हैं। परन्तु अनुवाद ऐसेही ग्रन्थोंका किया जाना चाहिए जिनसे सद्भाव और सुरुचिका प्रचार हो। आधुनिक अँगरेजी साहित्यकी सृष्टि अनुवादोंसे ही हुई है। उन्नीसवीं शताब्दीमें ऐसा कोई भी प्रतिभाशाली लेखक नहीं हुआ है जिसने अनुवाद न किया हो। मतलब यह कि किसी भी प्रकारसे हमें जनतामें सद्विचार फैलाना चाहिए। तभी हमारे साहित्यकी उन्नति होगी।

जो विद्वान् हैं, साहित्य-शास्त्रके मर्मज्ञ हैं, जिन्हें साहित्यके गुण-दोषकी परीक्षा करनेका अधिकार है, वे यही चाहते हैं कि साहित्यमें सुरुचिका प्रचार हो। आज-कल हिन्दीमें समालोचना की आवश्यकता पर ज़ोर दिया जा रहा है। इससे यह स्पष्ट है कि विद्वानोंकी रायमें वर्तमान हिन्दी-साहित्यमें सुरुचिका अभाव है। इसमें सन्देह नहीं कि सामयिक साहित्य लोक-रुचिकी उपेक्षा नहीं कर सकता। यदि लोक-रुचि विकृत है तो सामयिक साहित्य पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा। सामयिक साहित्यको लोक-प्रिय होनेके लिये विकृत लोक-रुचिका भी अनुसरण करना पड़ेगा। जो साहित्य लोक-रुचिके प्रतिकूल है वह लोक-प्रिय कैसे हो सकता है? इसलिये लोक-प्रियतापर जिस साहित्यका अस्तित्व निर्भर है उसके लिये यह सम्भव नहीं कि वह 'सु' और 'कु' की विवेचना करे! यदि वह देखेगा कि लोग 'सु' की अपेक्षा 'कु' की ओर झुक रहे हैं तो वह उसको ग्रहण करनेमें संकोच नहीं करेगा। विचारणीय यह है कि साधारण लोग झुकते किस ओर हैं। विद्वानोंकी राय है कि साधारण लोग साहित्यमें सत् और असत्की विवेचना नहीं कर सकते। विवेचना करनेका भार विद्वानोंने अपने ऊपर लिया है। तो भी विद्वानोंकी रुचि सदैव लोक-रुचिके अनुकूल नहीं होती। इससे यह तो प्रकट हो जाता है कि सर्व-साधारण भी विद्वानोंके विरुद्ध अपनी कोई सम्मति रखते हैं। यदि यह बात न होती तो हमें साहित्यमें एकभी ऐसा उदाहरण न मिलता जहाँ सर्वसाधारण और विद्वानोंमें विरोध

हो। सभी लोक-प्रिय ग्रन्थोंकी प्रशंसा विद्वान् नहीं करते और न विद्वानों द्वारा प्रशंसित सभी ग्रन्थ लोक-प्रिय होते हैं। यह होने पर भी ऐसे लोक-प्रिय ग्रन्थोंका अभाव नहीं है जो विद्वानों कोभी तोष-प्रद है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता है कि लोक-प्रिय ग्रन्थ बुरे ही होते हैं। तब लोक-रुचिकी व्याख्या कैसे की जाय ?

यह कहा जाता है कि भिन्न-भिन्न मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न रुचि होती है। परन्तु लोक-रुचिमें सिर्फ भिन्नता नहीं, एकता भी है। एकतासे यह बात सिद्ध होती है कि सभी लोग एक निश्चित सिद्धान्तके अनुसार किसीका आदर करते हैं। यदि यह बात न होती, यदि लोक-रुचिमें सिर्फ भिन्नता ही रहती, तो संसारका कोई भी काम नहीं चल सकता। साहित्य अथवा कलाके क्षेत्रमें जब कोई कृति लोक-प्रिय हो जाती है तब उससे यह प्रकट हो जाता है कि साहित्यके विषयमें सर्व-साधारण किस आदर्शको स्वीकार कर रहे हैं, बुरेको बुरा समझकर कोई भी ग्रहण नहीं करता। सर्वसाधारणमें अच्छे और बुरेके जो आदर्श प्रचलित हैं उन्हींके अनुसार 'अच्छे' साहित्यका प्रचार होता है। यदि 'अच्छे' के सम्बन्धमें उनका आदर्श नीचा है तो निम्न श्रेणीका साहित्य भी लोक-प्रिय हो जाता है। लोक-रुचि तभी विकृत होती है जब लोकमें मिथ्या आदर्शोंका प्रचार किया जाता है। ये मिथ्या आदर्श कैसे होते हैं, इसकी विवेचना यहाँकी जाती है।

विषयकी असाधारणतासे उसकी महत्ता सूचित नहीं होती

और न विषयकी महत्तासे यह सूचित होता है कि उसका प्रतिपादन भी महत्त्व-पूर्ण है। भगवान् रामचन्द्रके लोक-पावन चरित्रको आदर्श मान लेनेपर भी सभी कवि रामचरितमानसकी रचना नहीं कर सकते। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि विषयकी साधारणतासे उसकी क्षुद्रता नहीं प्रकट होती और विषय क्षुद्र होने पर कवि उसमें अपनी शक्तिका पूर्ण विकाश दिखला सकता है। कविताका विषय एक पतित मनुष्य होने पर भी विक्टरह्यूगोके समान श्रेष्ठ कवियोंके हाथमें लोक-पावन हो जाता है। इसका कारण है कविकी आत्मानुभूति। जिसमें अनुभूति नहीं वह श्रेष्ठ आदर्शको भी विकृति कर डालेगा। कई विद्वानोंकी यह धारणा है कि दूषित रुचिका परिचायक वह साहित्य है जिसमें समाजका दुराचार वर्णित है। परन्तु यथार्थमें दूषित रुचि उस साहित्यसे प्रकट होती है जिसमें मनुष्यत्वका विकृत रूप, उसका मिथ्या आदर्श, प्रदर्शित होता है। कहावत प्रसिद्ध है कि सद्वैद्यके हाथसे विष भी इष्ट है, परन्तु कुवैद्यके हाथसे अमृत इष्ट नहीं है। यही वात साहित्यके विषयमें भी कही जा सकती है। साहित्यमें जब आदर्शके नामसे असत्यका प्रचार किया जाता है तब उसका परिणाम अधिक भयङ्कर होता है।

साहित्यमें कलाका भी एक आदर्श होता है जो मनुष्यकी सौन्दर्य-भावनाका सूचक है। मनुष्यकी यह सौन्दर्य-भावना निरर्थक नहीं है। यह उसके आनन्दमय स्वभावके लिये आवश्यक है। सौन्दर्य केवल वाह्येन्द्रियोंका विषय नहीं, मन और आत्माका

भी विषय है। अतएव कलाके आदर्शमें हमें इसपर पूर्ण ध्यान देना चाहिए। यदि हमने कलाका एक-मात्र वही आदर्श रक्खा जो वाह्येन्द्रियोंका विषय है तो हम कलाके यथार्थ आदर्शसे च्युत हो गये। मिथ्या कल्पनासे वाह्येन्द्रियोंकी तृप्ति भले ही हो, पर मन और आत्माकी तृप्ति नहीं हो सकती। ऐसी कल्पनाओंसे वाह्येन्द्रियोंको भी क्षणिक ही तृप्ति होती है। ऐसी कल्पनाको कोई भी कलाका श्रेष्ठ आदर्श नहीं कहेगा। परन्तु एक कल्पना ऐसी भी है जिसे कलाका श्रेष्ठ आदर्श न माननेके लिये साहस चाहिए। वह है कविकी मिथ्या अनुभूतिकी कल्पना। जगत्में सौन्दर्य है, पर यह सौन्दर्य उसीके लिये है जो उसका अनुभव करना चाहेगा। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो सौन्दर्यके विषयमें पहले ही से एक साँचा बनाये रखते हैं। जब वे कहीं कुछ देखते हैं तब वे उसमें सौन्दर्य नहीं देखना चाहते, वे सिर्फ़ यही देखना चाहते हैं कि वह रूप किस प्रकार बदला जाय, जिससे वह उनके साँचेमें आ सके। हिन्दी-साहित्यकी 'नायिकायें' उसी साँचेके रूप हैं। वे भारतीय ललनाओंकी जीती-जागती मूर्तियाँ नहीं हैं। वे उनके मिथ्यारूप हैं। हिन्दीमें आज-कल ये साँचे तोड़े जा रहे हैं, परन्तु साँचोंको तोड़ देनेसे ही श्रेष्ठ मूर्ति सामने खड़ी नहीं हो जाती। तोड़नेका काम तो जारी है, परन्तु मूर्ति अभी बनी नहीं है। इसीलिये हिन्दीके कुछ समालोचकोंको बड़ा दुःख हो रहा है। वे इसका बदला लेना चाहते हैं। परन्तु हिन्दीमें सत्साहित्यकी वृद्धि तभी हो सकती है जब सर्व-साधारणमें

सत्‌के प्रति अधिक अनुराग उत्पन्न हो। इसके लिये उन्हें सत्‌के सम्बन्धमें शिक्षा देनी होगी।

आज-कल सभी देशोंमें ग्रन्थोंकी खूब वृद्धि हो रही है। पुस्तक-रचनाका मुख्य उद्देश्य तो यह है कि उसके द्वारा मनुष्योंकी ज्ञान-वृद्धि हो और उनमें सद्‌भाव जाग्रत हों। परन्तु अधिकांश ग्रन्थ ऐसे होते हैं कि उनसे न तो ज्ञानकी वृद्धि होती है और न सद्‌भावका प्रचार ही होता है। यही नहीं, किन्तु उनसे असद्‌भावनाओंका प्रचार होता है। ऐसे ग्रन्थोंका प्रभाव समाजके लिये बड़ा ही अनिष्टकर होता है। इसीलिये बड़े-बड़े विद्वान् परीक्षक उनका प्रचार रोकनेके लिये यत्नशील हैं। अधिकांश परीक्षकोंकी यही धारणा है कि आधुनिक साहित्यमें कुरुचि-पूर्ण ग्रन्थोंकी ही अधिक वृद्धि हो रही है।

साहित्यमें मलिन रचनाओंका प्रचार बन्द कर देना बड़ा कठिन काम है। अच्छी और बुरी किताबोंका निर्णय करना भी सहज नहीं है। एक विद्वानने लिखा है कि पत्रोंमें कुत्सित साहित्यके विषयमें चर्चा तो खूब की जाती है, परन्तु अभीतक थोड़े ही लोग यह समझ सके हैं कि सचमुच सत्साहित्य है क्या। अधिकांश लोगोंकी धारणा यह है कि कुत्सित साहित्यमें उन्हीं ग्रन्थोंका समावेश किया जाना चाहिये जिनमें प्रचलित धर्म, समाज अथवा सदाचारके विरुद्ध बातें लिखी जाती हैं। कुछ लोग यह समझते हैं कि वही किताबें बुरी हैं जिन्हें हम किसी नवयुवक अथवा नवयुवतीके हाथमें देनेसे हिचकते हैं।

हालब्रुक जानसन साहबका कथन है कि कुत्सित साहित्यके अन्तर्गत इन दोनों प्रकारके ग्रन्थोंकी गणना नहीं हो सकती। आपकी तो यह राय है कि सर्वसाधारण जिसे कुत्सित साहित्य समझते हैं वही यथार्थमें पढ़ने योग्य साहित्य है! आप कहते हैं कि बुरी किताबें यथार्थमें वे हैं जिनमें सत्यका संहार किया जाता है। जो कृत्य सचमुच कुत्सित हैं उनपर समाजकी मुहर लगाकर भव्यरूप देनेका प्रयत्न किया जाता है। जिनमें मिथ्याको इतना प्रश्रय मिलता है उन्हें लोग क्वचित् ही निन्दनीय समझते हैं। अधिकांश लोग जिन ग्रन्थोंको शिक्षादायक समझकर पढ़ते हैं उन्हींके द्वारा कुशिक्षा और मिथ्या संस्कारोंका प्रचार होता है। सत्साहित्य वह है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी उन्नतिके लिये चेष्टा करे। जो साहित्य सन्तोषकी शिक्षा देता है वह यथार्थमें अनिष्टकर है।

हिन्दीमें ही असत्यके प्रतिपादक 'शिक्षादायक' ग्रन्थोंका अभाव नहीं है। धर्मके पथको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये यदि किसी समाजको मिथ्या आदर्शोंसे सन्तोष होता हो तो वह यही हिन्दू-समाज है। अपने समाजकी दुरवस्थाकी ओर ध्यान न देकर और उसके प्रतिकारकी चेष्टा न कर हिन्दू ग्रन्थकार भगवती, सीता और सावित्रीके पतिव्रतका स्मरण कराकर समाजके मिथ्या धार्मिक संस्कार और अन्ध-विश्वासकी पुष्टि करते हैं। समाजकी मिथ्या धारणाके विरुद्ध भी कुछ कहना साहसका काम है। जो लोग समाजको उसका यथार्थ

रूप दिखलानेकी चेष्टा करते हैं उन्हें तिरस्कार और लाञ्छना सहनी पड़ती है। बात यह है कि समाज साहित्यपर सदैव अपना प्रभुत्व रखना चाहता है। समाजका पथ सदैव निर्दिष्ट रहता है। उच्छृङ्खलता उसे सह्य नहीं है। जो व्यक्ति उसकी मर्यादाको भङ्ग करनेकी चेष्टा करता है उसे समाज कठोर दण्ड देता है। साहित्य भी उसका प्रभुत्व अक्षुण्ण रखना चाहता है। यदि किसीने समाजकी नीतिके विरुद्ध लिखा तो वह अधार्मिक समझा जाता है और उसे दबानेकी पूरी चेष्टाकी जाती है। तो भी साहित्यमें समाजके विरुद्ध चरित्रस्थान पा लेते हैं। यह तभी होता है जब साहित्यमें व्यक्तित्वका विकास 'होने लगता है। अन्तमें उसीके द्वारा समाजकी मर्यादा भङ्ग हो जाती है। जब हम साहित्यमें समाजके विरुद्ध चित्र देखते हैं तब हमें यही बतलाया जाता है कि यह चित्र अनिष्टकर है। परन्तु यथार्थ बात यह है कि वह चित्र समाजके भविष्य विप्लवकी सूचना देता है। जिस शृङ्खलाके द्वारा समाज कालकी गतिको अवरुद्ध करना चाहता है उसकी भङ्गुरताका आभास हमें उसी चित्रसे मिलता है। समाजके पास धर्मका एक साँचा होता है। वह उसी जीवनको धार्मिक समझता है जो उस साँचेमें ढाला जाता है। वह धर्म को जीवनसे पृथक् रखता है। उसके अनुसार धर्म की उत्पत्ति जीवनसे नहीं होती, परन्तु जीवन ही धर्मके आधार-पर निर्मित होता है। धर्मके अन्तर्गत होनेसे पितृ-स्नेह धार्मिक है, मनुष्य जीवनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होनेसे वह धार्मिक नहीं

है। यदि समाजकी आज्ञा हो तो व्यक्तिको महाराज दशरथकी तरह पुत्र-स्नेह भी छोड़ना पड़ता है। अपनी धर्मपत्नीके अधिकारोंकी अवहेलना करना अधार्मिक है, परन्तु समाजकी मर्यादाकी रक्षाके लिये भगवान् रामचन्द्रको सीताजीका त्याग करना पड़ा। समाजका शासन अमान्य नहीं हो सकता। वही यथार्थमें धर्म माना जाता है। भारतवर्षमें धर्म ही जीवनका एक मात्र लक्ष्य माना जाता है। परन्तु सच पूछो तो हिन्दू-धर्म कोई वस्तु नहीं है। हिन्दू-समाज ही सब कुछ है। धर्मका जो स्वरूप समाज से निश्चित होता है, एक वही धार्मिक समझा जाता है। जब कोई व्यक्ति समाजसे अपना स्वत्व माँगता है तब समाज उसे अधार्मिक कहकर दबाना चाहता है। यही जब साहित्यमें प्रकट होता है तब समाजके पक्षपाती आदर्शकी दुहाई देकर उसको निर्मूल कर देना चाहते हैं। साहित्यमें आदर्शकी जो कल्पनाकी गई है वह बिलकुल मिथ्या है। साहित्यमें आदर्शकी सृष्टि हो नहीं सकती। किसी विशेष परिस्थितिमें यदि किसीने किसी प्रकारके जीवनको आदर्श माना हो तो क्या उसका वह परिमित जीवन अनन्त मानव-जीवनके लिये आदर्श हो सकता है? जब लोग साहित्यमें किसी आदर्शकी सृष्टि कर यह कहते हैं कि वस्तुतः जीवन ऐसा होना चाहिए तब वे किसी विशेष परिस्थिति का वर्णन करते हैं, आदर्शका नहीं।

यह सच है कि साहित्यमें जिन चरित्रोंने अक्षय स्थान प्राप्त कर लिया है उनके प्रति मनुष्यकी दृढ़ भक्ति है। हिन्दू-साहित्यमें

राम, कृष्ण, अर्जुन, भीष्म, सीता, सावित्री आदिके चरित्र चिर-स्मरणीय बने रहेंगे। ये हम लोगोंके दैनिक जीवनमें मिल गये हैं। यदि ये हिन्दूजातिकी स्मृतिसे लुप्त कर दिये जाँय तो हिन्दू-धर्मका विशाल भवन ढह जाय। वेद और शास्त्रोंकी चर्चामें अल्प संख्यक विद्वान् ही निरत रहते हैं। अधिकांश हिन्दुओं का धर्म-ज्ञान राम और कृष्णकी कथा ही तक है। कुछ लोग कदाचित यह कहें कि उपासनाके केन्द्र होनेके कारण इन्हीं चरित्रोंपर हिन्दू-धर्म स्थापित है। परन्तु उपासनाका कारण है इनके जीवनकी सम्पूर्णता। इनकी ईश्वरता ध्यान-गम्य है, परन्तु इनकी मनुष्य-लीला हृद्‌गम्य है। भगवान् कृष्णने अर्जुनको अपना जो रूप दिखलाया वह योगियोंके लिये है। सर्व-साधारण तो उनके मनुष्य-रूप हीपर मुग्ध हैं। अतएव साहित्यका एक-मात्र ध्येय मनुष्य-जीवनकी सम्पूर्णता है, और वही साहित्य श्रेयस्कर है जिसमें मनुष्य-जीवनकी पूर्णतापर विचार किया गया है।

———

हिन्दी-पुस्तक एजेंन्सी माला संख्या—४१

धनकुवेर कारनेगी

यह पुस्तक धनकुवेर कारनेगीका जीवन चरित्र है। किस प्रकार एक जुलाहेका बच्चा मजदूरीका काम करके अन्तमें धनकुवेर बना, इसका पूरा विवरण दिया है। यह पुस्तक विशेषतः नवयुवकोंके लिये अधिक उपयोगी है।

हिन्दी पुस्तक एजेन्सी
ज्ञानवापी काशी।